वैराग्य त्रिवेणी

(भतृहरि वैराग्य शतक, तुलसी वैराग्य संदीपनी और
पूरण वैराग्य शतक पर प्रवचन)

आमुख

महाराज भर्तृहरि उज्जयिनी (उज्जैन) के राजा थे। बाद में वे उत्कट वैराग्यवान हुए। जहां तक उनके विषय में प्रचलित है, वह यह है कि राजा भर्तृहरि संस्कृत के विद्वान थे। उन्होंने श्रृंगार शतक, नीति शतक और वैराग्य शतक इन तीन पुस्तकों की रचना की। श्रृंगार शतक और नीति शतक उन्होंने राजकाज के समय रचा था। जब विरक्त हुए, तब उन्होंने वैराग्य शतक रचा। उनकी रानी पिंगला थी, जिसमें वे अति आसक्त थे। पिंगला के मोह में वे रनिवास में ही पड़े रहते थे। मंत्री लोग काम-धाम देखते और करते थे। वे अत्यन्त योग्य होते हुए भी स्त्री में इतने आसक्त हो गये कि उनको राज-काज का होश-हवास ही नहीं था। किंतु उनकी रानी घोड़ा-दरोगा में आसक्त थी। यह बात राजा को कैसे पता चले? राजा से यह बात कौन कहे? 'कौन कहे कि राजा तन ढांक कर चलो!'

उनके छोटे भाई विक्रमादित्य थे। यह सब देखकर उनको बड़ा कष्ट हुआ। उनको सहन नहीं हुआ। उन्होंने राजा भर्तृहरि से कहा कि आप भाभी जी में अत्यन्त मोहित हैं, लेकिन वे आपके हाथ में नहीं हैं। उनको बड़ी ठोकर लगी। स्त्रैण आदमी अपनी हर बात रानी से कहता है। जो नहीं कहना चाहिए वह भी कहता है। अतएव भर्तृहरि ने अपनी रानी से यह सब कहा। वह बहुत क्षुब्ध हो गयी और कहने लगी कि विक्रमादित्य स्वयं भ्रष्ट है। वह अपनी भ्रष्टता छिपाने के लिए मुझ पर दोषारोपण करता है। कुछ दिनों में उसकी भ्रष्टता अपने आप खुल जायेगी।

उसने षड्यंत्र किया। नगरसेठ को बुलाया और कहा कि तुम विक्रमादित्य पर आरोप लगाओ कि वह मेरी बहू को चाहता है। सेठ ने कहा, विक्रमादित्य तो देवस्वरूप हैं, मैं यह कैसे कहूं? पिंगला ने कहा– नहीं कहोगे तो तुम्हारा कुशल नहीं होगा। तुम्हारा परिवार सहित विनाश करवा दूंगी। आदमी जितना विषयासक्त होता है उतना क्रूर होता है। काम जब असफल होता है तब क्रोध बढ़ता है, और काम जब सफल होता है तब लोभ बढ़ता है। काम ही केन्द्र में है।

सेठ ने मजबूर होकर विक्रमादित्य पर दोषारोपण किया कि वे मेरी बहू

को चाहते हैं और बलात चाहते हैं, इससे मैं बहुत दुखी हूं। इसका कुछ प्रबंध हो, नहीं तो मैं राज्य छोड़ दूंगा। यह सुनकर भर्तृहरि को बड़ा कष्ट हुआ। पिंगला ने कहा–इसने मेरे लिए कुछ कहा था। वह इसीलिए कहा था कि मैं निरस्त हो जाऊं तो इसकी धांधली चलती रहे। उसने राजा भर्तृहरि को बहुत कुछ सिखाया-पढ़ाया। राजा ने विक्रमादित्य से कहा–तुम देश से निकल जाओ, बस यही दण्ड है। विक्रमादित्य ने कहा–भैया! आपको पछताना पड़ेगा। मैं तो निकल जाऊंगा। वे निकल गये।

कुछ दिनों के बाद एक ब्राह्मण एक फल लाया जो बड़ा सुन्दर और अच्छा था। उसने राजा को दिया। राजा ने उसको इनाम दिया। हर आदमी अपनी प्रिय वस्तु अपने प्रियतम को देना चाहता है। भर्तृहरि की प्रियतमा पिंगला थी। राजा ने उसे फल दिया और कहा–यह बड़ा अद्‌भुत फल है इसको तुम खाओ। उसने कहा–मैं स्नान करके खाऊंगी। भर्तृहरि राजदरबार चले गये। पिंगला ने तुरंत घोड़ा-दरोगा को बुलाया और उससे कहा कि यह बहुत उत्तम फल है, इसको तुम खाओ। वह ले लिया और उसने भी कहा–इसे मैं स्नान करके खाऊंगा। लेकिन वह जितना आसक्त पिंगला में था उससे ज्यादा आसक्त नगर-वेश्या में था। घोड़ा-दरोगा फल लेकर नगर-वेश्या के पास पहुंचा, और कहा कि देखो, यह कितना उत्तम फल है, इसे मैं तुम्हें देता हूं। वेश्या ने कहा–इसे मैं स्नान करके खाऊंगी। वेश्या उस फल को लेकर राजा के पास पहुंची और उन्हें समर्पित किया। राजा ने पूछा–यह फल तुमने कहां से पाया? वह परेशान हो गयी, लेकिन बताना पड़ा–घोड़ा-दरोगा से पाया। घोड़ा-दरोगा बुलाया गया। राजा ने पूछा–यह फल तुमने कहां से पाया? उसको भी कहना पड़ा कि रानी से। फिर वह फल लेकर रनिवास में गया। राजा फल को छिपा रखा था। पिंगला से कहा–तूने फल खाया? उसने कहा–वाह! इसमें भी संदेह! राजा ने फल दिखाया और कहा, यह कहां से आया? फल देखकर पिंगला बेहोश हो गयी। समझ गयी कि आज मेरी सारी पोल-पट्टी खुल गयी। किन्तु राजा ने कुछ नहीं किया। राजा चाहता तो पिंगला और घोड़ा-दरोगा को मरवा देता और दूसरी शादी कर लेता। लेकिन उसके मन में अखण्ड वैराग्य उत्पन्न हो गया, और वह एक क्षण भी वहां नहीं रहना चाहा। तब तक विक्रमादित्य के विषय में भी पता चल गया था कि वे निर्दोष हैं।

विक्रमादित्य के लिए वह रोया, और मंत्रियों से कहा कि विक्रमादित्य को खोजकर लाओ और उन्हें गद्दी पर बैठाओ। मैं एक क्षण भी यहां नहीं रह सकता। उन्होंने राजशाही कपड़े उतारकर फेंक दिये और वे संन्यासी हो गये। उन्होंने कहा—

यां चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता।
साप्यन्यमिच्छति जने सजनोऽन्यसक्तः॥
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या।
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च माम् च॥

जिसका मैं निरंतर चिंतन करता हूं, वह पिंगला घोड़ा-दरोगा का चिंतन करती है। घोड़ा-दरोगा वेश्या में आसक्त है, वेश्या मेरे में। इसलिए उसको धिक्कार, उसको धिक्कार, मुझको धिक्कार और धिक्कार है काम को जो सारा कांड करवा रहा है। फिर उन्होंने दूसरा श्लोक कहा—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम्।
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

भोग में रोग का भय है। जो जितना भोगी होगा वह उतना रोगी होगा। कुल-परिवार के बढ़ जाने पर पतन का भय लगा रहता है। धन बढ़ जाने पर राजा, चोर, डाकू आदि का भय लगा रहता है। मानी आदमी को दीनता का भय लगा रहता है, कि लोग मुझे छोटा न मान लें। बली आदमी को दुश्मनों का भय लगा रहता है। सौंदर्य में बुढ़ापा का भय लगा रहता है क्योंकि कितना ही रूप-सौन्दर्य हो, बुढ़ापा आने पर सब समाप्त हो जाता है। शास्त्रार्थ में हार जाने का भय लगा रहता है। गुणों में दुष्टों का भय लगा रहता है। सद्गुणियों को दुष्ट लोग निंदित करते हैं। काया में कृतान्त-मृत्यु का भय लगा रहता है। **सर्वं वस्तु भयान्वितम्** संसार की सारी वस्तुएं भय से भरी हैं। **भुवि नृणाम् वैराग्यमेवाभयम्** संसार में मनुष्यों के लिए एक वैराग्य ही निर्भय पद है।

भर्तृहरि महाराज महान वैराग्यवान संत हुए। श्री पूरण साहेब ने भी अपने वैराग्य शतक में उनको याद किया है। भर्तृहरि का वैराग्य शतक

संस्कृत श्लोकों में है। श्री प्रतापसिंह नाम के कोई विद्वान हुए हैं, उन्होंने इसका हिन्दी छन्दों में अनुवाद कर दिया है। श्री हरिदास वैद्य ने अपने वैराग्य शतक भाष्य में उन्हें यथास्थान रखा है। परंतु कुछ श्लोकों का हिन्दी छंद नहीं है। उनका हिन्दी छंद मैंने बना दिया है। जो मेरे बनाये छंद हैं उन्हें इटैलिक्स में छापा गया है।

गोस्वामी तुलसीदास जी प्रसिद्ध महात्मा और कवि हैं। उनकी एक छोटी रचना 'वैराग्य संदीपनी' है, जो अमृतवचन है। श्री पूरण साहेब कबीरपंथ में महान वैराग्यवान संत हो गये हैं, जिन्होंने बीजक की प्रथम टीका त्रिज्या लिखी है। उनकी एक रचना 'वैराग्य शतक' नाम से है जो वैराग्य-भावों से भरी है।

भर्तृहरि वैराग्य शतक गोस्वामी जी की वैराग्य संदीपनी तथा श्री पूरण साहेब के वैराग्य शतक पर अनेक बार मेरे प्रवचन होते रहे। एक बार के प्रवचन की रिकार्डिंग को साधु यशेन्द्र दास जी ने लिख डाला, जो पुस्तकाकार में आपके हाथों में है। पढ़ें और लाभ लें।

सद्गुरवे नमः

वैराग्य त्रिवेणी

भर्तृहरि वैराग्य शतक

पहला प्रवचन

छप्पय-1

अजर अमर त्रयकाल सत्य जो अनन्त चेतन।
निज अनुभव से जानि जात जो शांत तेज घन॥
निर्विकार निर्द्वन्द्व सदा सर्वोपरि सोई।
तेहि पद दर्शक दिव्य रहनियुत बोधक जोई॥
ऐसे मुक्त स्वरूप जो श्री गुरुवर के चरण चित।
शीश झुकावत दास ये जनम मरण भय हरण हित॥

अजर अमर त्रयकाल सत्य जो अनन्त चेतन। जो अजर है, जीर्ण नहीं होता, जो अमर है, मरता नहीं। त्रयकाल है, पीछे था, आज है और आगे भी रहेगा। मैं हूं, इसमें कोई संदेह नहीं। कल-परसों भी था, दस वर्ष पूर्व भी था, आज भी हूं, और जीवनभर 'मैं' का अस्तित्व रहता है। वस्तुतः मैं इस जीवन के पहले भी था और जीवन के न रहने पर भी रहूंगा। जो असत्ता में हो वह सत्ता में नहीं आता, और जिसकी सत्ता है, वह असत्ता में नहीं जाता। केवल बाहरी रूप परिवर्तित होता है, मूल वस्तु मिटती नहीं। इसलिए तीनों काल में चेतन है और सत्य है, अनंत है। अनंत का मतलब जिसकी समाप्ति न हो।

अनंत के दो अर्थ होते हैं। पहला—सब देश में व्याप्त-अनंत, और दूसरा—सब काल में अनंत। जो सर्वत्र व्याप्त हो वह देश में अनंत और जो सब समय रहे वह काल में अनंत। कोई भी नित्य वस्तु काल में अनंत होती है, देश में अनंत नहीं होती। कोई वस्तु देशव्यापी नहीं होती है कि सब देशों में वह व्याप्त हो। अगर कोई अखण्ड वस्तु सब देश में व्याप्त हो, तो दूसरी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। एक जगह में, एक काल में एक ही वस्तु रहेगी। अगर कोई वस्तु सर्वत्र परिपूर्ण है, तो इसका कहने वाला भी दूसरा नहीं होगा। इसलिए सारे देश में व्याप्त यानी देश की दृष्टि से कोई वस्तु व्याप्त नहीं है। काल की दृष्टि से व्याप्त है कि पहले था, आज है और आगे रहेगा। तो 'अनंत चेतन' यह चेतन अनंत है, इसका अंत नहीं होता, नित्य है।

निज अनुभव से जानि जात जो शांत तेज घन। स्वरूप से वह शांत है, ज्ञान स्वरूप है। घन ठोस है, अखण्ड है। यह अपने अनुभव से ही जाना जाता है। जब सारे विचार शांत होते हैं, तब स्वरूप का अनुभव होता है। वाणी द्वारा हम निर्णय करते हैं। निर्णय में ही जीवन भर न रह

जायें, किन्तु इसका अनुभव भी करें। निर्णय बीच-बीच में होता रहे, और बीच-बीच में साधना का अनुभव भी होता रहे। सारे विचारों को छोड़कर जब चित्त स्थिर होता है, तब अपना स्मरण होता है कि इन सारे स्मरणों का साक्षी मैं शेष रह गया, एकदम शांत हो गया, मन का भवसागर शांत हो गया।

निर्विकार निर्द्वन्द्व सदा सर्वोपरि सोई। सोई वह चेतन निर्विकार है, निर्द्वन्द्व है, निर्भय है और सदैव सर्वोपरि है। सारे विकार मनजनित हैं, मान्यता से हैं, न समझ करके हैं, आदतन हैं। विषय-वासना की आदत, स्वरूप के अज्ञान और खोटे संस्कार इन सबके कारण विकार आते हैं। साधक समझे कि मेरा स्वरूप निर्मल है और विकारों को दूर करे। कुसंग न करे। कुसंग सर्प और बिच्छू से भी भयंकर समझना चाहिए। कुचिंतन जहर है। कभी कुचिंतन न करे। **निर्द्वन्द्व** जिसमें हानि-लाभ, सुख-दुख, संयोग-वियोग का द्वंद्व न हो। द्वंद्व कहते हैं दो को, दुविधा को, झगड़े-प्रपंच को। जो अकेला है, केवल है, वहां द्वंद्व नहीं है। **सर्वोपरि** है, आत्मसत्ता ही सर्वोपरि है। जहां तक संसार का प्रपंच है, वह मायामय है, विकारी है। लेकिन उसको जानने वाला उससे ऊपर है, सर्वोपरि है।

तेहि पद दर्शक दिव्य रहनियुत बोधक जोई। इस पद का जो दर्शन कराता है, स्वरूपज्ञान का जो दर्शन कराता है, इस दिव्य बोध को देता है, वह रहनी युक्त बोधक सद्गुरु है। **बोधक** बोध देने वाला। इस ज्ञान का बोध देने वाला सद्गुरु है, जिसमें अभिव्यक्ति-शक्ति हो और रहनी की शक्ति हो। अभिव्यक्ति-शक्ति के बिना पूरा बोध नहीं दे सकता। कोई रहनी संपन्न संत है, तो उनसे बड़ी प्रेरणा मिलती है, लेकिन उनमें अभिव्यक्ति-शक्ति होनी चाहिए, वह ठीक से साधक को समझा सके। जो कहते हों उस रहनी में टिके हों। दोनों बातें चाहिए। अभिव्यक्ति-शक्ति और रहनी की शक्ति, ये दोनों शक्ति जिसके पास हैं, ऐसे सद्गुरु उस स्वरूप का बोध देते हैं।

शीश झुकावत दास ये जनम मरण भय हरण हित। यह दास जन्म-मरण के भय से मुक्त होने के लिए, ऐसे सद्गुरु के चरणों में शीश झुकाता है। भर्तृहरि जी कहते हैं कि मैं जन्म-मरण से डरा हूं। जन्म-मरण के प्रवाह में पड़कर इस संसार में भटकता हूं। यहां दुख के सिवा और

कुछ मिलता नहीं है। निरसता, निरसता, निरसता। निरसता सब तरफ है। क्षणभंगुरता के अलावा और कुछ हाथ में लगने वाला नहीं है। भटकाव-भटकाव है, इसलिए मैं चाहता हूं कि यह भटकाव बंद हो, और अविनाशी स्वरूप में स्थिति हो। अतएव सद्‌गुरु के चरणों में शीश झुकाता हूं कि वे हमें बोध दें और हमारा निस्तार करें।

कुण्डलिया-2

पण्डित मत्सरता भरे भूप भरे अभिमान।
और जीव या जगत के मूरख महा अजान॥
मूरख महा अजान देखि के संकट सहिए।
छन्द प्रबन्ध कवित्त काव्य रस कासो कहिए॥
वृद्ध भई मन माँहि मधुर वाणी गुण मण्डित।
अपने मन को मारि मौन धरि बैठत पण्डित॥

पंडित मत्सरता भरे। भर्तृहरि जी कहते हैं, पंडित लोग मन में मत्सरता भरे हैं, ईर्ष्या में हैं। वे दूसरे के पांडित्य को सहना नहीं चाहते। **भूप भरे अभिमान।** राजा लोग अपने अभिमान में चूर हैं। कुछ सुनना ही नहीं चाहते हैं। **और जीव या जगत के मूरख महा अजान।** बाकी जीव जो जगत के हैं, वे मूर्ख हैं, अज्ञानी हैं। उनके कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं है। **मूरख महा अजान देखि के संकट सहिए।** उनको देखकर संकट होता है। वे कुछ समझ ही नहीं पाते हैं।

छन्द प्रबन्ध कवित्त काव्यरस कासो कहिए। ये छंद, प्रबंध, कवित्त और काव्यरस किससे कहा जाय! छंद कविता के रूप में बनाये जाते हैं। छंद का अर्थ होता है ढका हुआ। छंद में खुलासा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि छंद की एक-एक पंक्ति में इतने वर्ण-मात्रा होने चाहिए यह बंधन होता है। खुलासा कहने से वर्ण-मात्रा बढ़ जायेंगे या घट जायेंगे। इसलिए छंद में भाव ढका होता है। इसीलिए छंद कहा जाता है। 'प्रबंध' का मतलब है बांधना। 'प्र' विशेषण है और 'बंध' बंधन। किसी कहानी के रूप में या कथा में किसी भाव को बांधना प्रबंध है। 'कवित्त' कविता। 'काव्य रस' शृंगार, वीर, हास्य आदि रस होते हैं अथवा काव्य

गान से आनंद आता है। भर्तृहरि महाराज कहते हैं, ये सब किससे कहा जाय!

वृद्ध भई मन माँहि मधुर वाणी गुण मण्डित। गुणों से संपन्न मधुर वाणी मन ही में बूढ़ी हो गयी। **अपने मन को मारि मौन धरि बैठत पंडित।** पंडित अपने मन को मार कर मौन हो बैठ जाता है कि किससे कहा जाय! सुनने वाला कोई नहीं है। सुनने वालों का आज अभाव है, पहले भी अभाव था। बहुत पहले भर्तृहरि महाराज ने यह श्लोक कहा है। कोई सुनने वाला नहीं मिलता है। वेदव्यास ने भी यही कहा था कि कोई सुनने वाला नहीं है, मैं ऊंचे पर खड़ा भीड़ में अपने हाथों को ऊपर उठाकर कहता हूं, लेकिन कोई सुनने वाला नहीं है। धर्म से ही अर्थ और मोक्ष दोनों मिलते हैं, ऐसे धर्म का सेवन क्यों नहीं करते हो।

छप्पय-3

पुण्यहु फल भय देत विषय सुख करि एकत्रै।
बहुत काल सुख भुगै साधि शुभ कर्म विचित्रै॥
सुख चाहत बहु विषय भोग जो नाना धारण।
अन्त काल सब भोग होत ये दुख के कारण॥
मेरे बुद्धि विचार से संसारी सब कर्म में।
सुख दीखत कछुहू नहीं वरु दूनों दुख धर्म में॥

पुण्यहु फल भय देत। पुण्य का फल भी भय देता है। बहुत पुण्य किया, तो पुण्य करने का फल हुआ कि बहुत धन-धान्य से संपन्न हो गये। इससे विषय-सुख के पदार्थ इकट्ठे किये गये, तो वे भय ही तो उत्पन्न करेंगे।

बहुत काल सुख भुगै साधि शुभ कर्म विचित्रै। शुभ कर्म करके बहुत काल तक सुख-भोग करते हो गये। लेकिन उनका छूट जाना पक्का है। स्वर्ग की कल्पना की गयी है कि मर जाने के बाद पुण्य कर्म करने वाले को स्वर्ग मिलेगा। लेकिन स्वर्ग में भी क्या है? वही सांसारिक भोग। और **क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति।** जब पुण्य क्षीण हुआ तब मृत्युलोक में फिर आ गये। निर्भयता तो वहां भी नहीं है।

सुख चाहत बहु विषय भोग जो नाना धारण। विषय भोगों के नाना पदार्थ और नाना सुख की चीजें पाकर इंद्रियों को उनमें निरंतर लगाये रखने की जो चेष्टा होती है, उसको समझना चाहिए कि **अंतकाल सब भोग होत ये दुख के कारण।** अंत में सारे भोग दुख के कारण बनते हैं। भोगों से इंद्रियां चंचल होती हैं, मन चंचल होता है और वासना बनती है। वही वासना जीव को बैठने नहीं देती। इंद्रियां भोगों में पड़कर कमजोर होती हैं। अतएव इंद्रियों से भोग भी संभव नहीं रह जाता। मन तो ठहरता नहीं, चंचल बना रहता है। अतएव भोगों में उद्वेग के सिवा और कुछ नहीं है।

एक सुन्दर नवयुवक महात्मा जा रहे थे। एक राजा पीछे से रथ पर बैठा हुआ आ गया। राजा बूढ़ा हो गया था। वह रथ से उतर पड़ा, और महात्मा के पीछे चलने लगा। राजा ने महात्मा से कहा—मैं बूढ़ा हो गया हूं। मेरे रनिवास में सुन्दर-सुन्दर युवतियां हैं, लेकिन मैं असमर्थ हो गया हूं। मुझे संतान भी नहीं है। महाराज, आप मेरे रंगमहल के बाग में रहें। वहां सब प्रकार के भोग निर्यत्न उपस्थित हैं। कृपा करें, आप वहां दर्शन दें। महात्मा उच्छवास लेकर खड़े हो गये और कहा—तू अपना सत्यानाशी वचन लौटा ले। यह तूने क्या कहा? बिना यत्न के तू भोग देगा! ठीक है, मुझे मेहनत नहीं करना पड़ेगा, लेकिन भोगों के लिए मन तो मुझे चलाना पड़ेगा। जब मेरा मन पतित हो जायेगा, तब मैं भोगों में लगूंगा। तब मेरे में क्या रह जायेगा? इंद्रियां चंचल होंगी, मन चंचल होगा। चंचल मन मुझे दुखाया करेगा। फिर कभी तृप्ति और संतोष न होगा। यह दुख तो मुझे ही भोगना पड़ेगा। तेरे को हिम्मत कैसे हुई ऐसे सत्यानाशी वचन कहने की ? राजा ने क्षमा मांगी। तो संसार के भोग बिना यत्न के ही मिल जायें, तो भी उन्हें भोग कर मन चंचल होगा! सुख का रास्ता मन की शांति है। अतः भोगों से बचना है। जो आवश्यक शरीर-निर्वाह है, उसको भी बहुत संयमपूर्वक लेना चाहिए। स्वाद की आसक्ति न हो, और किसी वस्तु की आसक्ति न हो। अनासक्त होकर शरीर रक्षण मात्र लेकर प्रारब्ध गुजर करें। किसी भी भोग में सुख तो क्षणमात्र भी नहीं है, बल्कि दुख और पश्चाताप है।

छप्पय-4

खोदत डोल्यों भूमि गड़िहु ना पाई सम्पत्ति।
धौंकत रह्यों पखान कनक के लोभ लगी मति॥
गये सिन्धु के पास तहाँ मुक्ताहु न पायों।
कौड़ी कर नहिं लगी नृपन को शीश नवायों॥
साधे प्रयोग श्मशान में भूत-प्रेत बैताल सजि।
कतहूँ वाँछित ना भयो अब तो तृष्णा मोहि तजि॥

भर्तृहरि जी को धन के लिए भटकना नहीं पड़ा था। वे संसार की दीन–दशा को चित्रित करते हैं। वे अपने ऊपर उतार कर प्रथम पुरुष की क्रिया के रूप में कहते हैं–

खोदत डोल्यों भूमि गाड़िहु ना पाई सम्पत्ति। मैं जगह–जगह जमीन को खोदता रहा। कहीं धन मिल जाये जो मेरे दादे–पुरखे का गाड़ा हुआ हो। घर में कई कोठरियां खोद डालीं, और बाहर भी जहां अनुमान लगा, खोद डाला, लेकिन धन नहीं मिला।

धौंकत रह्यों पखान कनक के लोभ लगी मति। पत्थर को फूंकता रहा कि कहीं उसमें सोना मिल जाय। **गये सिन्धु के पास तहां मुक्ताहु न पायों।** समुद्र के पास गया। उसमें डुबकी लगायी कि मोती मिल जाय, लेकिन वहां मोती भी न मिला। **कौड़ी कर नहिं लगी नृपन को शीश नवायों।** राजाओं के पास गया। हीं–हीं–हीं–हीं करता रहा, लेकिन राजाओं ने भी एक कौड़ी नहीं दी। **साधे प्रयोग श्मशान में भूत-प्रेत बैताल सजि।** श्मशान में गया जहां भूत–प्रेत बैताल माना जाता है। उनको सिद्ध करने की चेष्टा की कि वे हमें धन दें। एक जैनी महात्मा कहते थे कि भूत–प्रेत होते हैं। उन्होंने अपने भक्तों से कहा–ओ देखो! भूत उनके यहां चांदी और सोने के सिक्के ऊपर से छप्पर फाड़कर गिरा देता था। मैंने कहा–यह तो बहुत काम का भूत है। अगर ऐसा भूत मिल जाये तो बहुत अच्छा है रोज सिक्का गिराता रहे। ऐसी भ्रांति है कि भूतों को सिद्ध कर लो तो अनायास वह धन दे जायेगा।

बचपन में सुना करता था कि अयोध्या में जो टेढ़ी बाजार है वहां इमिरती बनती है। इमिरती जलेबी के आकार की होती है किंतु उससे ऊंचे

स्तर की होती है। लोग कहते हैं, वहां की इमिरती मनुष्य के खाये खत्म नहीं होती, जिन्द खाते हैं। जिन्द आते हैं, वे रुमाल में रुपये बांधे रहते हैं। बोलते नहीं हैं। हलवाई को देते हैं और हलवाई समझ लेता है। वह तौल कर उतने की इमिरती उसकी रुमाल में बांध देता है। वह चला जाता है। तो टेढ़ी बाजार की इमिरती जिन्दों के खाने से खत्म होती हैं, आदमी खाकर खत्म नहीं कर सकते। कहावतें ऐसी-ऐसी होती हैं कि लगती हैं सच हैं। भूत-प्रेत-बैताल को कोई साध ले तो ये धन दे जायें, क्योंकि ये सर्वगत होते हैं, कहीं भी पहुंच जाते हैं, और धन ला सकते हैं, इस भ्रम में भटकता रहा। कहीं भी तृष्णा पूरी नहीं हुई। **अब तो तृष्णा मोहि तजि।** ऐ तृष्णा! अब तो तू मुझे छोड़ दे।

छप्पय-5

भटकों देश विदेश तहाँ फल कछुहु न पायों।
निज कुल को अभिमान छोड़ि सेवा चित लायों॥
सहि गारी वो खीझ हाथ झारत घर आयों।
दूर करत हूँ दौर श्वान जिमि परगृह खायों॥
यहि भांति नचायो मोंहि तैं बहकायो दै लोभ तल।
अजहूँ ना संतोष कछु तृष्णा! तू पापिन प्रबल॥

यहां भी भर्तृहरि जी उसी ढंग से कहते हैं। वे संसार के तृष्णालुओं का चित्रण करते हैं। कहने वाला कहता है कि मैं देश-विदेश में भटका, लेकिन कुछ फल न मिला। पैसे के लिए, धन के लिए देश-विदेश भटकता रहा। **निज कुल को अभिमान छोड़ि सेवा चित लायों।** अपने कुल का अभिमान छोड़ दिया और नीचों की मैंने सेवा की। कितने धनवान हैं, वे धन से ऊंचे लगते हैं, लेकिन स्वभाव से बड़े नीच होते हैं, महाकुकर्मी, महालंपट, महादुराचारी। उनकी सेवा मैंने की। **सहि गारी वो खीझ हाथ झारत घर आयों।** उनके क्रोध और कटुवचन सहा। इसके बाद भी मैं लौटा तो हाथ झाड़ते हुए ही।

दूर करत हूँ दौर श्वान जिमि परगृह खायों। ऐसे धनवान लोग मुझे दुर-दुर करते रहे। लेकिन जैसे कुत्ते खदेड़े जाने पर भी फिर दौड़-दौड़

कर घरों में जाते हैं वैसे मैं धनवानों के पास जाता रहा। **यहि भांति नचायो मोंहि तैं बहकायो दै लोभ तल।** इस प्रकार ऐ तृष्णा! तूने लोभ दे-देकर मुझे भटकाया। **अजहूँ न संतोष कछु तृष्णा! तू पापिन प्रबल।** ऐ तृष्णा! तू महा पापिन है। आज भी तुझे संतोष नहीं हो रहा है।

छप्पय-6

सहे खलन के बैन इतै पर तिनहिं रिझाये।
नैनन को जल रोक शून्य मन मुख मुसक्याये॥
देत नहीं कछु चित्त तऊ कर जोर दिखाये।
कर कर चाउ करोर भोर ही दौरत आये॥
सुन आश! प्यास तेरी प्रबल तू अति अद्‌भुत गति रहत।
यहि भांति नचायो मोहि अब और कहा करिबो चहत॥

मैंने दुष्टों के वचनों को सहा, लेकिन उनको रिझाने के चक्कर में लगा रहा। **सहे खलन के बैन इतै पर तिनहिं रिझाये।** उन दुष्टों के कटु वचन सहे। धनवान लोग नहीं समझते हैं कि हमारे नौकर भी आदमी हैं। सब अपने-अपने पेट के नौकर हैं। जिसे धनवान कहते हैं क्या वह नौकर नहीं है? आदमी को यह नहीं समझना चाहिए कि केवल मैं आदमी हूं, किन्तु नौकर भी आदमी है। **लेकिन धन का नशा जिस पर आन चढ़ा, सर के शैतान पर एक और भी शैतान चढ़ा।** धन का नशा जिसके ऊपर चढ़ता है, मानो शैतान के ऊपर एक और शैतान चढ़ जाता है। धन ही क्या, विद्या का नशा, पुजापा का नशा, साधु-महंत होने का नशा, विद्वान होने का नशा, ऊंचे पदाधिकारी होने का नशा। नशा ही क्या जो भुला न दे। चार कौड़ी बटोर लिए, थोड़ा कूड़ा-कबाड़ इकट्ठा हो गया, फिर अपने को धनी कहलाने लगे। फिर न जबान स्थिर है, न आचरण स्थिर है। इन धनिक दुष्टों के मैंने कटु वचन सहे। रात-दिन इन्हें रिझाने के चक्कर में पड़ा रहा।

नैनन को जल रोक शून्य मन मुख मुसक्याये। उनकी बातों को सुनकर आंखों से आंसू आ गये, किन्तु उन्हें रोक कर शून्य मन से मुस्कुरा दिया। कितना बढ़िया कथन है। मुस्कराने का मन कहां हो सकता है, जहां

गाली-मार मिलती हो, लेकिन ऊपर से मुस्करा दिया। **देत नहीं कछु चित्त तऊ कर जोर दिखाये।** कुछ भी वे नहीं दे रहे हैं, फिर भी मैं बारम्बार उनके सामने हाथ जोड़ता हूं। **कर कर चाउ करोर भोर ही दौरत आये।** करोड़ों आशा रखकर मैं उन दुष्टों के पास सुबह-सुबह पहुंचा। **सुन आश! प्यास तेरी प्रबल तू अति अद्भुत गति रहत।** ऐ आशा! तेरी प्यास बड़ी प्रबल है, बड़ा अद्भुत है। इस प्रकार तूने मुझे आज तक नचाया। अब क्या करना चाहती है! **अब और कहा करिबो चहत।**

छप्पय-7

उदय अस्त रवि होत आयु को छीन करत नित।
गृह-धन्धे के मांहि समय बीतत अजान चित्त॥
आँखिन देखत जन्म जरा अरु विपति मरण नित।
तऊ डरत नहिं नेकु शंकहु करत न कछु चित॥
जग जीव मोह-मदिरा पिये छाके फिरत प्रमाद में।
गिर परत उठत फिर-फिर गिरत विषय वासना स्वाद में॥

उदय अस्त रवि होत आयु को छीन करत नित। सूरज उदय होता है और अस्त होता है, और हमारी आयु को निरंतर क्षीण करता है। हम समझते हैं कि हम बढ़ रहे हैं। हम इतनी उम्र के हो गये। लोग बच्चे का जन्म दिवस मनाते हैं, वर्षगांठ मनाते हैं। अरे! एक वर्ष और घट गया। शोक करने की जगह है। हर्ष करने की जगह कहां है? कहां प्रमाद करने की जगह है? कहां भूल रहे हो? **सुबह होती है शाम होती है, उम्र यूं ही तमाम होती है।**

गृह धन्धे के मांहि समय बीतत अजान चित। घर के धंधे में पड़कर अजान चित्त हो समय बीतता चला जा रहा है। बस, वही शौच, स्नान, खाना-पीना, काम-धंधा, व्यापार-बट्टा, खेती-बारी, नौकरी-चाकरी, राग-द्वेष, हानि-लाभ, पत्नी-बच्चे, माता-पिता, भाई-बिरादर के राग-द्वेष, पड़ोसी के राग-द्वेष, इसी में चित्त निरंतर घूम रहा है। जीवन का फल क्या मिलता है? अज्ञानी बनकर सुबह से नित्य-क्रिया और घर के धंधे में

समय बीत रहा है।

आँखिन देखत जन्म जरा अरु बिपति मरण नित। तुम आंखों से देख रहे हो, जन्म हो रहा है और धीरे-धीरे उम्र बीत कर जरा अवस्था आ जाती है। बीच-बीच में विपत्तियां आती हैं। प्रिय का वियोग, अप्रिय का संयोग, असाध्य व्याधि, धन की भारी हानि, ये सब विपत्तियां आती हैं और अंत में मरण अवस्था आ जाती है। ये सब आंखों से तुम देख रहे हो। **तऊ डरत नहिं नेकु शंकहु करत न कछु चित।** इतने पर भी तुम डर नहीं रहे हो। विषय-वासनाओं से, सांसारिक माया-मोह से तुम डरते नहीं हो। इसी में फंस-फंस कर सारा दुख है। और फिर इसी में चिपक रहे हो। थोड़ी भी चिंता नहीं करते हो कि तुम किधर जा रहे हो? क्या कर रहे हो?

जग जीव मोह मदिरा पिये छाके फिरत प्रमाद में। जग के सारे जीव मोह की मदिरा पी रखे हैं, और उसके प्रमाद में छककर घूम रहे हैं। **गिर परत उठत फिर-फिर गिरत विषय वासना स्वाद में।** वे गिरते हैं, उठते हैं, और जीवनभर ऐसे उठते-गिरते रहते हैं, और विषय-वासना स्वाद में पड़े रहते हैं। रोते हैं, धोते हैं, फिर वही काम करते हैं। **सौ-सौ जूता खाय तमाशा घुस के देखे।** सौ-सौ जूता खाते हैं लेकिन घुसकर तमाशा देखते हैं। जिनसे सारी दुर्गति सहते हैं, उन्हीं भोगों के राग-द्वेष में पड़े रहते हैं।

छप्पय-8

फट्यो पुरानो चीर ताहिं खैंचत अरु फारत।
छोटे-छोटे बाल दुक्ख ही दुक्ख पुकारत॥
घर माही नहिं अन्न नारिहू निर्दय याते।
भई महा जड़ रूप करत मुख सो नहिं बाते॥
यह दशा देखि अक्खरत चित जीव थर-थरत रुकत मुख।
अपने गुजरे या उदर हित देह कहै को सत पुरुष॥

गरीब घर है। गृहिणी के कपड़े फटे-पुराने हैं। घर में अन्न नहीं है। वह बच्चों को क्या दे? बच्चे पुराने और फटे कपड़े को पकड़-पकड़कर

खींचते हैं कि माता भूख लगी है, भूख लगी है। **छोटे-छोटे बाल दुक्ख ही दुक्ख पुकारत।** जिनको दिन में कई-कई बार खाने को चाहिए, उनको एक बार भी पेट भर रोटी नहीं मिलती है। वे दुख-दुख पुकार रहे हैं। **घर माही नहिं अन्न नारिहू निर्दय याते।** घर में अन्न न होने से गृहिणी निर्दय हो गयी है। **भई महा जड़रूप करत मुख सो नहिं बातें।** वह जड़रूप हो गयी है, और मुख से बात भी नहीं कर रही है। **यह दशा देखि अक्खरत चित जीव थर-थरत रुकत मुख।** ऐसी दशा देख कर बहुत दुख होता है, चित्त में बहुत अखरता है और किसी से मांगने की इच्छा होती है, लेकिन मुख रुक जाता है कि कैसे मांगूं? अगला आदमी देगा कि नहीं। केवल अपने पेट के लिए आदमी नहीं मांगेगा। इतने घनचक्कर में पड़ा है, इसलिए वह बाल-बच्चों के लिए परेशान है। अपने पेट के लिए भी मांगना पड़ता है। कैसी दयनीय दशा है? गरीबों का चित्रण यहां भर्तृहरि जी ने कैसा सजीव किया है, सोचते ही बनता है।

छप्पय-9

गई भोग की चाह गयो गौरव गुमान सब।
मित्र गये सुर लोक अकेले रहे आप अब॥
उठत सु लकड़ी टेक तिमिर आँखिन में छायो।
शब्द सुनत नहिं कान वचन बोलत बहकायो॥
यह दशा वृद्ध तन की तऊ चकित होत मरिबो सुनत।
लखु विचित्र गति जगत की दुखहू को सुख सो लुनत॥

शरीर बिलकुल बूढ़ा हो गया और भोग की चाहना मंद हो गयी। इंद्रियां एकदम शिथिल हो गयी हैं। समाज में गौरव नहीं रहा। जवानी में आदमी काम-धंधा करता है तो गरमाहट रहती है। लोगों से संपर्क रहता है, और लोग पूछते भी हैं। बुढ़ापा में कोई भी नहीं पूछता। **मित्र गये सुर लोक अकेले रहे आप अब।** जो हमारे मित्र थे, हमारे सुख-दुख को जानते थे, लंगोटिया यार थे, वे भी मर गये। **अकेले रहे आप अब।** पुराने परिचितों में कोई रहा नहीं। अब केवल मैं अकेला रह गया हूं। अब मेरी बातों को कोई सुनने वाला नहीं है। **उठत सु लकड़ी टेक तिमिर आँखिन में छायो।** लकड़ी टेक कर उठता हूं, सीधे उठ नहीं पाता हूं।

उठने पर आंखों में अंधियारी छा जाती है। **शब्द सुनत नहिं कान वचन बोलत बहकायो।** अब हमारे कान शब्द नहीं सुनते हैं। नाती-पोतों से पूछता हूं, तो वे बहका देते हैं कि बाबा! यह बात नहीं है। बाबा! आप नहीं जान पाओगे।

यह दशा वृद्ध तन की तऊ चकित होत मरिबो सुनत। शरीर की यह दशा हो गयी, इतनी जर्जरता है, तो भी मरने का नाम सुन कर भयभीत हो जाता है, चकित हो जाता है। जगत की विचित्र गति है। यह मूढ़ मनुष्य दुख को सुख मानता है। बूढ़ा होकर, जर्जर होकर क्या सुख पाओगे। इतनी अवदशा में भी तू मरना नहीं चाहता है। आदमी को सोचना चाहिए कि आज तक जी कर मैंने क्या पाया? अभाव, असंतोष, राग, चिंता, उद्वेग ही तो पाया; और जीयो तो यही सब पाओगे। धनी से धनी आदमी अंदर से असंतोष के अलावा और कुछ नहीं पाते।

एक बार मुझे ऐसी सभा में जाने का अवसर पड़ा, जो उद्योगपतियों की थी। किसी के चेहरे पर रौनक नहीं थी। आदमी जब तक जीता है, अभाव, असंतोष, पीड़ा, टीस यही उसके चित्त में रहते हैं। अगर वह ज्ञानवान है, भक्तिवान है, वैराग्यवान है, साधना संपन्न है, तो निश्चित है वह दुखों से मुक्त होता है। तब उसको जीना-मरना बराबर लगता है। क्योंकि जो करना था वह कर लिया। जीने की इच्छा वहां समाप्त हो जाती है। वहां न मरने की इच्छा है न जीने की इच्छा। मुक्तरूप, कृतार्थता का अर्थ ही यही होता है, जब कुछ करना बाकी न हो, कुछ पाना बाकी न हो। जीने और मरने की इच्छा न हो तब कृतार्थता है।

छप्पय-10

बिन उद्यम बिन पाप पवन सर्पन को दीन्हो।
तैसे ही सब ठौर घास पशुवन को कीन्हो॥
जिनकी निर्मल बुद्धि तरन भव सागर समरथ।
तिनकी दूबर वृत्ति हरण गुण ज्ञान ग्रंथ गथ॥
विधि अविधि करी तैं अति अधिक याते नर पर घर फिरत।
निशि दिवस पचत तन मन नचत लचत रचत उरझत गिरत॥

भर्तृहरि जी विधाता को धिक्कारते हैं और कहते हैं कि तेरी भूलों को

मैं बता रहा हूं। ऐ विधाता! तूने भयंकर गलती की है, बहुत बड़ी गलती की है। **बिन उद्यम बिन पाप पवन सर्पन को दीन्हो।** तूने गलती तो बहुत की है, लेकिन खास गलती मैं कहता हूं। तूने बिना उद्यम के, बिना पाप के ही पवन आहार सांपों को दिया। यह भ्रम धारणा पुराकाल से है। यह भर्तृहरि जी के मन में भी था अथवा काव्यरस में पड़कर ऐसा कह दिया हो। लोगों में यह धारणा है कि सांप हवा पी कर जीते हैं। वे बिल के ऊपर निकल आते हैं और मुख को फैला देते हैं, जिससे हवा पेट में चली जाती है, बस हो गया काम। लेकिन यह बिलकुल भ्रम है। हवा पीकर नहीं जीते हैं किन्तु कीड़े-मकोड़े खाते हैं। उनका भी आहार है। लेकिन लोकधारणा अनुसार हवा पीने में न पाप है, न उद्यम है। किसी जीव को न तकलीफ देना है न कुछ प्रयत्न करना है। बैठे रहो बस सुरकते रहो हवा! अगर मनुष्य को ऐसा होता तो कितना बढ़िया होता।

तैसे ही सब ठौर घास पशुवन को कीन्हो। पशुओं के लिए कितना बढ़िया आहार है, जिधर जायें घास चर रहे हैं। न अमनिया करना है न बरतन खोजकर उसमें डालकर पकाना है।

जिनकी निर्मल बुद्धि तरन भव सागर समरथ। जिस मनुष्य की बुद्धि निर्मल है, और संसार-सागर को तरने में समर्थ है, उसकी वृत्ति बहुत दुर्बल है। उसका भोजन बड़ी कठिनाई से पैदा होता है। पैदा होने के बाद बहुत व्यायाम करना पड़ता है, तब खाने को मिलता है। केवल भोजन पकाने में ही बहुत मेहनत है। जब लोग भोजन पकाते हैं तो घंटों लगे रहते हैं। पैदा करने में तो महीनों-महीनों माथा कूटते रहो, तब खाने को मिलता है। कब इसमें गुण ज्ञान ग्रंथ आ सकता है। कब आदमी किताब पढ़े? कब आदमी ज्ञान-चर्चा करे।

विधि! अविधि करी तैं अति अधिक यातें नर पर घर फिरत। ऐ विधि! तूने अविधि कर डाली। नाम विधि है, और तूने किया अविधि! विधि का मतलब है—कानून, कायदा, नियम। तू तो नियम बनाने वाला है, विधाता है, और ऐसा खराब नियम बनाया। इतना जंगल कर देता कि फल ही फल होता और मनुष्य तोड़-तोड़ कर खाता रहता। लेकिन **निशि दिवस पचत तन मन नचत लचत रचत उरझत गिरत।** आदमी पेट की खातिर दूसरों के घरों में भटक रहा है। भिक्षा मांग रहा है, ताबेदारी

कर रहा है। रात-दिन भटकता है, मन में पचता है, दूसरे के आगे-पीछे नाचता है और गिरता-पड़ता है। यदि तुम्हारा नियम उत्तम होता तो ये सब करना न पड़ता।

छप्पय-11

विधि सों पूजे नाहिं पायँ प्रभु के सुखकारी।
प्रभु को धरों न ध्यान सकल भव दुख को हारी॥
खोले स्वर्ग कपाट धर्म हूँ करो न ऐसो।
कामिनि कुच के संग रंग भर रह्यो न तैसो॥
हरि हाय हाय! कीन्हों कहा पाय पदारथ नर जनम?।
जननी यौवन वन दहन को अग्नि रूप भये प्रकटहम॥

प्रभु के चरणों की मैंने पूजा नहीं की, जो सुख देने वाली है। प्रभु का ध्यान भी धारण नहीं किया, जो हमारे भव-दुख को काट सके। स्वर्ग का कपाट खोले, ऐसे मैंने शुभकर्म भी नहीं किये। संसार के भोग भी नहीं मिले। उनकी भी केवल आशा-आशा ही रही। हे विधाता! इस उत्तम मानव जीवन को पाकर हमने क्या किया? हम केवल माता के जवानी रूपी जंगल को जलाने वाले अग्नि रूप प्रकट हुए। **जननी यौवन वन दहन को अग्नि रूप भये प्रकट हम।** न योग किया, न भोग किया। कोई भी भोग स्थिर नहीं है। योग का फल स्थिर है, वह तो किया नहीं।

नीति में लिखा है—**जो व्यक्ति निश्चित को छोड़कर अनिश्चित को पकड़ता है, तो निश्चित को उसने स्वयं छोड़ दिया और अनिश्चित छुटा-छुटाया है।** योग का फल मोक्ष और भोग का फल है दुख, भवबंधन। भोग मनभर मिलते भी नहीं हैं। भोग ग्रहण से होता है, और ग्रहण में परतंत्रता है। योग त्याग से होता है और त्याग में स्वतंत्रता है। सभी मनुष्य और वस्तुएं हमारे अधीन रहें, इसमें परतंत्रता है। अपने माने गये शरीर में जवानी अपने अधीन नहीं रहती, देखते-देखते खिसक जाती है, पता नहीं चलता। इसलिए शौकीन जवानों की मूंछ में जब बाल पकने लगते हैं, तब वे उनको उखाड़ देते हैं। और जब कई बाल पक जाते हैं, तब काट-काट कर निकाल देते हैं, या खिजाब लगाते हैं। लेकिन-

कोटिन यतन करो यह तन की, अंत अवस्था धूरी।
बालू के घरवा में बैठे, चेतत नाहिं अयाना।
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना॥

(बीजक, शब्द 72)

कबीर साहेब कहते हैं, ऐ अज्ञानी! बालू के घर में बैठकर जागता नहीं है, चेत नहीं रहा है। ग्रहण करने से भोग मिलता है जिसमें आदमी परतंत्र है, और त्याग करने से मोक्ष मिलता है, इसमें हर आदमी स्वतंत्र है। इसलिए मोक्ष का रास्ता पकड़ो, भोग का नहीं। क्योंकि ग्रहण में परतंत्रता है और त्याग में स्वतंत्रता है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
20 सितम्बर, 1995 ई०)

दूसरा प्रवचन

छप्पय-12

भोग रहे भरपूर आयु यह भुगत गई सब।
तप्यो नहीं तप मूढ़ अवस्था तपित भई सब॥
काल न कितहूँ जात वैस यह चली जात नित।
वृद्ध भई नहिं आश वृद्ध वय भई छाँड़ हित॥
अजहूँ अचेत चित चेत कर देह गेह सो नेह तज।
दुख दोष हरण मंगल करण श्री हरिहर के चरण भज॥[1]

भर्तृहरि जी महाराज कहते हैं—भोग तो हैं लेकिन **आयु यह भुगत गई सब।** दुनिया के भोग बने रहते हैं, लेकिन अपनी आयु क्षीण हो जाती है। एक दिन भोग करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती। पांचों विषय सामने हैं लेकिन उनको भोगने की क्षमता आदमी में नहीं रह जाती। **तप्यो नहीं तप मूढ़ अवस्था तपित भई सब।** ऐ मूर्ख! तूने तप नहीं किया, किन्तु सारी अवस्थाएं तप गयीं। तप कल्याण के लिए होता है। प्रतिकूल अवस्था आने पर सह लेना तप है। लेकिन प्रतिकूलता आने पर हमने उसे नहीं सहा, अपितु राग-द्वेष में रात-दिन तपते रहे। सह ले तो वह तपस्या है, न सहे तो केवल ताप है। सारे संसार में स्वभावों की भिन्नता है। दूसरे के कुछ ऐसे व्यवहार होते हैं। वे कभी-कभी हमें अच्छे नहीं लगते। उनको सह लेना ही हमारी तपस्या होगी। हमें इतनी सावधानी बरतनी चाहिए कि हमारा व्यवहार दूसरे के लिए दुखद न हो। अपने मन को ऐसा रखें कि आई हुई प्रतिकूलता को सहें और जान-बूझकर किसी के लिए प्रतिकूलता उपस्थित न करें। अगर आदमी ऐसा आचरण बना ले तो उसका जीवन

---

1. भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपौ न तप्तं वयमेव तप्ताः।
   कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥12॥

मधु हो जायेगा, आनंदमय हो जायेगा। बिना अहंकार के विसर्जन किये, यह संभव नहीं है। आदमी जितना अहंकारी होता है, उतना असहनशील होता है, और दूसरे को सहाने की चेष्टा करता है। जान-बूझकर ऐसा व्यवहार करता है, जिससे दूसरों को कष्ट हो। स्वयं थोड़ा भी सहना नहीं चाहता है। यह रवैया इंसान को नीचे ले जाता है।

इंसान को ठंडी-गरमी सहना पड़ता है। आये दिन भूख-प्यास सहना पड़ता है। अपने मन के प्रतिकूल घटनाएं सहना पड़ता है। लेकिन तप से नहीं सहा, निर्विकार भाव से नहीं सहा, किन्तु विवश होकर सहा। तो वह कल्याण में सहायक न हुआ किन्तु जीवनभर जलता ही रहा।

काल न कितहूँ जात वैस यह चली जात नित। काल नहीं गया, आयु ही चली गयी, उम्र ही बीत गयी। काल को चाहते हैं कि मिट जाय, लेकिन काल तो पीछे लगा है और हमारी उम्र ही बीत गयी। **वृद्ध भई नहिं आश वृद्ध वय भई छाँड़ हित।** हमारी आशा बूढ़ी नहीं हुई, किन्तु शरीर बूढ़ा हो गया। आशा जीर्ण हो, क्षीण हो, तो शांति मिले, किन्तु शरीर क्षीण हो गया।

मन मरे न माया मरे, मरि मरि जात शरीर।
आशा तृष्णा न मरे, यों कथि कहैं कबीर॥

(कबीर साखी)

कबीर साहेब कहते हैं, मन, माया, आशा, तृष्णा नहीं मरतीं केवल शरीर मरता है। शरीर के मरने से कोई मंगल नहीं, किन्तु आशा, तृष्णा, वासना, मन-माया के मरने से मंगल है। शरीर जीर्ण होता जाय साथ ही मन भी जीर्ण होता जाय, और यदि शरीर के जीर्ण होने के पूर्व मन जीर्ण हो जाय तो सोने में सुगंध है। जो साधक अपनी जवानी में सारी कामनाओं को छोड़ देते हैं, वे कितने धन्य हैं। शरीर अभी युवा और बलवान है, लेकिन उनका मन निर्मल हो गया है, वासना क्षीण हो गयी है।

अजहूँ अचेत चित चेत कर देह गेह सो नेह तज। इसलिए ऐ असावधान मन! आज भी सावधान हो जा, और देह-गेह का मोह छोड़ दे। यह देह तेरी नहीं है और यह घर तेरा नहीं है। शरीर रोज पक रहा है। पकते-पकते यह चू पड़ेगा, और इस पृथ्वी में उसी प्रकार लीन हो जायेगा,

जैसे सागर में बूंद लीन हो जाती है। इसलिए जग जा। यहां तेरा कुछ भी नहीं है। तू अपने स्वरूप में स्थित हो। **दुख दोष हरण मंगल करण श्री हरिहर के चरण भज।** जो दुख-दोष को हरण करने वाले हैं और मंगल करने वाले हैं, वही श्री हरिहर हैं। इनके चरणों की वंदना कर। हरिहर सद्‌गुरु ही हैं, जो हमारे सारे विकारों को हरे, बोध दे, जो अपने संरक्षण में रखकर हमारा उद्धार करे, वह सद्‌गुरु हरिहर है। जो स्वयं निर्मल हैं वे हमें निर्मल कर सकते हैं। जो ज्ञान-वैराग्य संपन्न हैं, ऐसे सद्‌गुरु-संतों का आधार लेकर ही कल्याण होगा। बाहर हरिहर कहीं नहीं मिलेगा।

छप्पय-13

क्षमा क्षमा बिन कीन बिना संतोष तजे सुख।
सहे सीत तप घाम बिना तप पाय महा दुख॥
धर्‍यो विषय को ध्यान चन्द्रशेखर नहिं ध्यायों।
तज्यो सकल संसार प्यार जब उन बिसरायो॥
मुनि करत काज सोई किए फल दीसत विपरीत अति।
अब होत कहा चिंता किए अजहूँ कर हर चरणचित॥

भर्तृहरि जी शैव थे, उन्होंने बीच-बीच में शिव जी की उपासना में पंक्तियां कही हैं। **क्षमा क्षमा बिन किन बिना संतोष तजे सुख।** क्षमा मैंने की लेकिन बिना क्षमा के की। जब बल नहीं चला तब क्षमा की, वह क्षमा नहीं है।

सबल क्षमी निगर्व धनी, कोमल विद्यावंत।
भव में भूषण तीन हैं, औरों सबै अनंत॥

(कबीर साखी)

सद्‌गुरु कबीर साहेब कहते हैं कि सबल हो किंतु क्षमाशील हो; धनी हो किंतु गर्व न हो; और विद्वान हो किंतु कोमल, विनम्र हो–ये तीनों संसार के भूषण हैं। और तो बहुत हैं। क्षमा मैंने की लेकिन क्षमा की इच्छा से नहीं की, मजबूर होकर की। संतोष नहीं रहा, लेकिन सुख तजा। बिना संतोष के सुख तजा। क्योंकि सुख का कोई चांस नहीं रह गया। दांत टूट गये, चाम में सिकन आ गयी, शरीर शिथिल हो गया। भोग अब संभव

नहीं है। अब सुख का त्याग कर रहे हैं, लेकिन संतोष तो मन में नहीं है। मन होता है कि हम जवान होते तो सुख भोगते, तो अच्छा रहता। लेकिन मजबूर हैं, कुछ कर नहीं सकते।

सहे सीत तप घाम बिना तप पाय महा दुख। ठंडी सहे, गरमी सहे, घाम सहे, वर्षा सहे, सब सहे, लेकिन तप की दृष्टि से कुछ नहीं सहे। प्रसन्न होकर नहीं सहे किन्तु मजबूर होकर के सहे। **धर्‍यो विषय को ध्यान चन्द्रशेखर नहिं ध्यायों।** मैंने रात-दिन विषय का ध्यान किया, लेकिन चन्द्रशेखर का ध्यान नहीं किया। अर्द्धचन्द्र शिव जी अपने सिर पर रखते हैं। शिव जी लोह का चन्द्रमा बना कर अपने सिर की जटा में चिपकाये रहते हैं ऐसी बात नहीं है। यह एक कल्पित रूपक है। आत्मा ही शिव है। मांडूक्य उपनिषद् में बात आती है।

प्रपञ्चोपशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

जब प्रपंच का उपशमन हो जाता है, चित्त शांत हो जाता है, तब शिवत्व का उद्घाटन होता है। आत्मा जब निर्मल अवस्था में पहुंच जाय, वही शिव है। तो विषयों का ध्यान किया, किन्तु शिव का, आत्मा का ध्यान नहीं किया। विषयों का चिंतन किया, आत्मचिंतन नहीं किया।

तज्यो सकल संसार प्यार जब उन बिसरायो। हम तो चिपकना चाहे कि सब मेरे हैं, सब मेरे हैं। सबको अपना मानना चाहा, लेकिन उन सभी ने मुझे छोड़ दिया। तब मैंने संसार को छोड़ा। पत्नी भी विमुख। बहू बहुत कृपा करती है जो रोटी दे देती है।

एक सेवामुक्त अफसर ने कहा, बहू सुबह रोटी बनाकर रख देती है। बच्चे खाते हैं, स्कूल जाते हैं, और लड़का भी आफिस जाता है, इसलिए सुबह ही रोटी बनाना पड़ता है। वही रोटी पड़ी रहती है, मैं एक बजे खाता हूं। अगर मैं बहू से कहूं कि बेटी, दो रोटी मेरे लिए उसी समय सेंक दे, सब्जी वही रहे कोई हर्ज नहीं। तो वह मुझसे कुछ नहीं कहेगी, पति से कहेगी। और उसका पति, मेरा लड़का जब आफिस से आयेगा तब वह मेरी फजीहत करेगा। कैसा अद्भुत है संसार। जिन मां-बाप ने बच्चे को पाला-पोषा, प्यार दिया, उन मां-बाप को बेटे-बहू समय से दो गरम रोटी दे नहीं सकते। तो संसार ने जब प्यार छोड़ दिया तब मैंने संसार का त्याग

किया।

त्याग करन है सबन को, बचत न कोई दिखाय।
चाहे तजे दुख भोग के, चाहे प्रथम हटाय॥

(विशाल वचनामृत)

वीरता यह है कि पहले त्याग दो।

मुनि करत काज सोई किए, फल दीसत विपरीत अति। जो काम मुनि करते हैं, वही सब मैंने किया, लेकिन फल उलटा हुआ। साधक त्याग करते हैं, तप करते हैं, साधना करते हैं, वह सब मैंने किया, लेकिन फल बिलकुल उलटा। क्या साधु को ही मन मारना पड़ता है, गृहस्थ को मन नहीं मारना पड़ता है! जो विवाह न करे उसको कामवासना के लिए मन मारना पड़ता है और जो विवाह कर लेता है, उसको क्या काम-वासना के लिए मन नहीं मारना पड़ता है? उसकी तो तृष्णा इतनी बढ़ जाती है कि उसे बारम्बार मन रोकना पड़ता है। हरदम कहां तक भोग करता रहे। हरदम करते रहने की सुविधा ही नहीं है। और यदि ज्यादा भोग करेगा तो उसकी जल्दी मिट्टी पलीद हो जायेगी। इसी प्रकार बीड़ी-सिगरेट पीने वाले को बराबर बीड़ी के विषय में मन रोकना पड़ता है। कब तक मुंह में बीड़ी खोंसे रहे? जो बीड़ी नहीं पीता है, उसे बीड़ी के विषय में कभी मन रोकना ही नहीं पड़ता। आदत ही नहीं है। भोगों को भोगने वालों को ज्यादा मन रोकना पड़ता है। त्यागी को थोड़ा मन रोकना पड़ेगा। त्याग का अभ्यास हो जायेगा फिर परम विश्राम है। तपस्वी साधक लोग जो काम करते हैं, वही काम मैंने भी किया लेकिन फल बिलकुल उलटा हो गया।

अब होत कहा चिंता किए अजहूँ कर हर चरण चित। कहने वाला कहता है, अब चिंता करने से क्या होगा? अब तो सब कुछ गंवा दिये। लेकिन ठीक है, आज भी हरि के चरणों में चित कर, सद्गुरु के चरणों में मन लगा। **कहहिं कबीर जान दे बही, जब से चेते तब से सही।** कबीर साहेब कहते हैं, जो बीत गया उसको छोड़ो, सोचो मत। जब जाग गये, तभी सबेरा समझो।

दोहा-14

सेत चिकुर तन दशन बिन, बदन भये ज्यों कूप।

गात सबै शिथलित भये, तृष्णा तरुण स्वरूप॥

सेत चिकुर तन शरीर के सब बाल सफेद हो गये। 'सेत' सफेद 'चिकुर' बाल, 'तन' शरीर। **दशन बिन बदन भये ज्यों कूप।** दांत के बिना मुंह कुआं जैसा हो गया। दांत जब उखड़ जाते हैं, तब मुंह कुआं जैसा पोपला हो जाता है। **गात सबै शिथलित भये।** शरीर के सारे अंग शिथिल हो गये। अंत:करण में भी दृढ़त्व न रहा। संकल्प दृढ़ नहीं है तो बातें भूल जाती हैं। पैर इधर धरो तो उधर हो जाता है। हाथ से कुछ काम करना चाहो, तो उतनी सफलता नहीं होती। आंखों से तो दिखना बहुत पहले ही कम हो गया है। दूर की दृष्टि भी कम हो गयी।

तृष्णा तरुण स्वरूप। तृष्णा जवान है तो सब बेकार है। इसलिए तृष्णा क्षीण होना चाहिए। शरीर जैसे-जैसे क्षीण हो, वैसे-वैसे तृष्णा भी क्षीण हो।

शरीर जैसे पका आम है। पके आम पकते-पकते पक गये तो डाली से चू पड़ते हैं। हमारा शरीर पके साथ ही मन भी पके और मन संसार से चू पड़े। अहंकार-ममकार क्षीण करता चले। सबसे निस्पृह, आनंदमग्न, निर्द्वन्द्व हो जाय। इस संसार में हमारा एक कण भी नहीं है। न कोई हमारा है, न कुछ हमारा है, यह भाव पक्का भजन है। राम नाम भजन, सतनाम भजन, ओम भजन, सोहम् भजन सब भजनों से बड़ा भजन है यह मानना कि इस संसार में न हमारा एक कण है, न एक व्यक्ति है, कोई नहीं है। शरीर की रक्षा के लिए शुद्ध, सात्विक, सुपाच्य भोजन लें। शरीर यात्रा पूर्ण करना है। इस संसार से कोई भोग की इच्छा न रखे। न कुछ पाना रहा, न कुछ देखना रहा, न सुनना रहा, न किसी से मिलना-जुलना रहा। अपने को पाया, अपने को जाना, अपने को मिला, अब और क्या देखना है। परमानंद, परमतृप्ति, आत्यंतिक सुख, आनन्द की पराकाष्ठा निष्काम अवस्था है। शरीर धीरे-धीरे क्षीण हो रहा है। उससे तीव्र गति से हमारी तृष्णा क्षीण होना चाहिए। बहुत जल्दी स्वरूपस्थिति का काम कर लेना चाहिए।

दोहा-15

इक अम्बर के टूक को, निशि में ओढ़त चंद।
दिन में ओढ़त ताहि रवि, तू कत करत छछन्द॥

कवि कितना सुन्दर कहता है, **इक अम्बर के टूक को, निशि में ओढ़त चंद।** उसी आकाश के एक टुकड़े को रात में चन्द्रमा ओढ़ लेता है। **दिन में ओढ़त ताहि रवि,** दिन में उसी को सूर्य ओढ़ लेता है। **तू कत करत छछन्द।** तू क्या छछन्द कर रहा है? थोड़े में गुजर कर, बहुत वस्तुओं का संग्रह मत कर। यह कहने का एक तरीका है। चांद और सूरज बेजान हैं, और आकाश कोई चीज नहीं जिसे उन्होंने ओढ़ रखा है। बातों को समझाने के लिए युक्तियां कितनी मार्मिक होती हैं, और मन में वैराग्य भावना उत्पन्न करती हैं। चांद और सूरज इतने बड़े, इतने विशाल और आकाश के एक ही टुकड़े से बेचारे रात और दिन में गुजर करते हैं, और तुम छछन्द कर रहे हो, दिखावा कर रहे हो !

छप्पय-16

चाहे जब तक भुगै विषय पर अन्त भिन्न ह्वै।
नर तू क्यों ना तजै विषय दुख जानि खिन्न ह्वै॥
नर नहिं छोड़त जगत जगत ही छोड़ि देत तेहि।
लखि अवदशा अनेक एक नहिं जात बात कहि॥
जगत मोह माया विवश छुटत होत अति शूल मन।
प्रथम तजत नर ताहिं जब लहत परम पद शांति घन॥

चाहे जब तक विषयों को भोगो, अंत में छोड़ना है। यहां जितनी ममता बनाओ, अंत में बिछुड़ना है, यह पक्का है। प्यारे से प्यारे के वियोग के दिन को देखने के लिए कमर कसकर तैयार रहना चाहिए। मनुष्य की विशेषता यह है कि जो सामने हों उनके साथ सुन्दर बरताव करे। प्रेम, समता, स्नेह का बरताव करे, और जब जो छुटे उसमें थोड़ा भी मोह न करे। यह साधना की परिपक्वता और विशेषता होगी। मन की थोड़ी प्रतिकूलता पाकर खिन्न हो जाना, प्रेम न करना, सद्भाव न करना, अपने अहंकार में डूबे रहना और लोगों से स्नेह का व्यवहार न कर पाना; और अनुकूलता पाकर ऐसा चिपक जाना कि वह बिछुड़ने लगे तो हाय–

तौबा करने लगना; यह क्या साधना है? सबके प्रति प्यार, स्नेह, शुद्ध सद्भावना हो, लेकिन हमारा कोई भी कभी कहीं छुट जाये तो दुख न हो। क्योंकि यहां हमारा कुछ भी नहीं है। ऐसी स्थिति अपनानी चाहिए। चाहे जब तक विषयों को भोगो, उनसे बिछुड़ना पक्का है।

नर तू क्यों न तजै विषय दुख जानि खिन्न ह्वै। आदमी संसार को नहीं छोड़ता है, संसार ही उसे छोड़ देता है। हम चाहते हैं कि और रहें; और काल उठा ले जाता है। इस पर मुझे सुषेण वैद्य वाली कथा याद आती है। जब हनुमान जी लंका जाते हैं, (वह रात का समय है) और सुषेण वैद्य से कहते हैं कि लक्ष्मण को बाण लगा है, वे बहुत पीड़ित हैं, तुम चलो। सुषेण कहते हैं–नहीं भई, मैं तो दुश्मन का वैद्य हूं, रावण का वैद्य हूं, मैं कैसे जाऊं। हनुमान जी कहते हैं, वैद्य के लिए न कोई मित्र, न कोई शत्रु। वैद्य तो सबकी चिकित्सा करता है। सुषेण ने कहा, मैं बिलकुल नहीं जा सकता हूं। तब हनुमान जी जमीन के नीचे हाथ डाले और उनका पूरा मकान उठाने लगे। सुषेण हां-हां-हां कहते रहे और हनुमान जी उन्हें मकान सहित लेकर उड़ गये ! कैसे कूदें? यदि कूदें तो मर जायें।

यह तो कथा है, काल्पनिक है, लेकिन बड़ी मनोरंजक है। ऐसे ही मौत आयेगी। आप बचने की चेष्टा करते रहो और वह प्राण खींचकर ले जायेगी। तो आदमी जगत को नहीं छोड़ना चाहता है, जगत ही उसको छोड़ देता है। वीरता यह है कि हम जगत को छोड़ दें और मौत का स्वागत करें। बोरिया-बिस्तर बांधकर हर समय तैयार रहें। जब मौत आये, उसका स्वागत है। मौत आने से हमारा कल्याण है। शारीरिक जीवन अच्छा जीवन नहीं है। यह कूड़ा-कचड़ा का जीवन है, द्वंद्व का जीवन है। शरीर-रहित जीवन निर्मल है। शरीर से रहित जीवन ही मेरा असली जीवन है। शरीर का जीवन क्षणिक है, और आत्मिक जीवन अनंत है। शारीरिक जीवन उपद्रवमय है, आत्मिक जीवन निर्मल है। इसलिए शरीर के विसर्जन का दिन हमारे लिए पर्व का दिन है, उत्सव का दिन है। साधक को यह समझौता करना चाहिए कि आखिर में जाना पड़ेगा। इसलिए मोह छोड़ देना समझदारी है, तो पहले से ही मोह छोड़ दो। मान लो तुम रहो यहां और सरक न पाओ, उठ न पाओ, बैठ न पाओ तब क्या सुख होगा? शरीर तो क्षीण होगा ही, इसे रोका नहीं जा सकता। इसलिए समझदारी का

बरताव करें।

लखि अवदशा अनेक एक नहिं जात बात कहि। जगत मोह माया विवश छुटत होत अति शूल मन। जब विवशतापूर्वक जगत की सब माया छूटती है, तब मोह के कारण पीड़ा होती है। **प्रथम तजत नर ताहिं जब लहत परमपद शांति घन।** जब आदमी स्वयं मोह को छोड़ देता है, तब परमपद की प्राप्ति होती है, अखण्ड शांतिपद की प्राप्ति होती है।

छप्पय-17

तृष्णा मूल नशाय होय जब ज्ञान उदय मन।
भये विषय में लीन बढ़ै दिन पर दिन चौगुन॥
जैसे मुग्धा नारि कठिन कुच हाथ लगावत।
बढ़त काम मद अधिक अधिक तन में सरसावत॥
जरा जीर्ण ऐश्वर्य को त्यागत लागत दुक्ख अति।
तोहि तजबे को असमरथ वासव जो है वायुपति॥

तृष्णा मूल नशाय होय जब ज्ञान उदय मन। जब हृदय में ज्ञान उदय होता है तब तृष्णा जड़ मूल से नष्ट हो जाती है। तृष्णा ही संसार में भटकाने वाली है। महात्मा बुद्ध ने 'धम्मपद' में कहा है—"ऐ गृहकारक! मैंने तेरे को देख लिया और कड़ियां मैंने खींच ली हैं। अब यह शरीर रूपी गृह फिर से नहीं बनेगा।" गृहकारक तृष्णा है, घर बनाने वाली तृष्णा है। मैंने कड़ियां खींच लीं। साधक देखता है, जो अंतिम स्थिति की बात है, वैराग्य की बात है। यह सारे संसार के साधकों की बात है।

दर्शन में अंतर होता है। वैराग्य की बात एक है। सूफी संतों ने कहा है—**संसार खाकदान है, राख की टोकरी है।** जिस संसार को बहुत आकर्षित दृष्टि से देख रहे हो, वह राख की एक टोकरी है। ऐसा जब मन में विवेक ज्ञान उदय होता है, तब भव में भटकाने वाली दशा जड़-मूल से नष्ट हो जाती है। इसका मतलब यह नहीं है कि एक बार ज्ञान हुआ और सब बंधन नष्ट हो गया। जीवनभर अभ्यास की जरूरत है। लगनपूर्वक अभ्यास करते-करते तृष्णा समाप्त हो जाती है। फिर भी सावधान रहना

पड़ता है कि तृष्णा फिर से उत्पन्न न हो जाय।

भये विषय में लीन बढ़ै दिन पर दिन चौगुन। जो रात-दिन विषय में लीन रहता है, उसकी तृष्णा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती है। किसी विषय में लीन हो, किसी मनुष्य में ममता करो, किसी पदार्थ में आसक्ति बनाओ, तो उसमें तृष्णा बढ़ती चली जायेगी। कोई आदमी युवती के संग रहे तो उसकी काम-वासना बढ़ेगी। इसमें तृष्णा थोड़े क्षीण होगी। भर्तृहरि जी कहते हैं—ऐ तृष्णा! जरा-जीर्ण ऐश्वर्य को त्यागने में लोगों को अत्यन्त दुख होता है। टूटी झोपड़ी है, चटाई भी सोने के लिए नहीं है, भोग की तो बात ही नहीं, किसी प्रकार पेट भर जाय तो वाह-वाह है। ऐसे लोग भी त्याग नहीं कर पाते हैं।

तोहि तजिबे को असमरथ वासव जो है वायुपति। भर्तृहरि जी कहते हैं—ऐ तृष्णे! तेरे को त्यागने में इन्द्र भी असमर्थ है। इन्द्र भी त्याग नहीं पाता है। इतना बलवान इंद्र है, लेकिन तेरे को त्याग नहीं पाता है। इन्द्र क्या त्याग पायेगा? संत त्यागेंगे, विरक्त त्यागेंगे, विवेकी त्यागेंगे, भक्त त्यागेंगे। यह तो कहने का एक तरीका मात्र है। इन्द्र बड़ा बलवान है, लेकिन वह भी तृष्णा नहीं त्याग पाता है।

छप्पय-18

अबल अंध श्रुति पुच्छ पैर से हीन श्वान जिमि।
बहत घाव से राध देह में किलबिलात कृमि॥
वृद्ध भूख से व्यथित गले हण्डी का घेरा।
अहो! विषय परचण्ड दण्ड ताहू पर फेरा॥
ऐसो दुखिया श्वान जो शुनि पीछे दौरो फिरत।
यह मरे हुए घट धारि को काम पुनः मारत गिरत॥

एक कुत्ता है जो निर्बल है, अंधा है, उसके कान कटे हैं और पूंछ कटी है, एक पैर भी टूटा है। उसके शरीर में घाव हो गये हैं। उनमें से मवाद बहता है और कीड़े किलबिलाते हैं। वह बूढ़ा है और भूख से पीड़ित है। किसी के घर में घुसा था और हंडी में मुंह डाला था और घर मालिक ने डंडा मारा था, हंडी फूट गयी थी, लेकिन हंडी का घेरा उसके गले में माला की तरह फंस गया था। **अहो! विषय परचण्ड दण्ड ताहू पर फेरा।** यह

विषय ऐसा प्रचण्ड है, ऐसे दुखी श्वान पर भी अपना डंडा घुमा रहा है। **ऐसो दुखिया श्वान जो शुनि पीछे दौरो फिरत।** ऐसा दुखी कुत्ता भी कुतिया के पीछे दौड़ा फिरता है। यह काम, मरे हुए को भी मारता है। इसलिए साधक को कुसंग से सतत सावधान रहना चाहिए। जहां कुसंग हो, जहां मन वासनाओं की तरफ उन्मुख हो, ऐसी संगत, ऐसी भूमिका, ऐसा साथ, ऐसा व्यवहार और वस्तु से हजारों कोस दूर रहना चाहिए। यह समझ लो, तुम्हारा चरित्र ही तुम्हारा परम धन है और कुछ नहीं। जब तक जीवन है तब तक खाने-पीने की चीजें मिल जायेंगी। तन ढकने के लिए कपड़े मिल जायेंगे। किन्तु जो सबसे दुर्लभ चीज है, वह सुसंग है। वैराग्यवान की संगत करो, उनकी शरण में अपना सिर दे दो और अपने मन के अहंकार को दूर कर अपना कल्याण करो।

जहां से कामवासना के संस्कार जगें, ऐसी कुसंगत से साधक को हजारों कोस दूर रहना चाहिए। क्योंकि साधक कुसंग में पड़कर ही पतित होते हैं। संगदोष में ही पतन होता है। नीमी ऋषि, नारद, श्रृंगी ऋषि आदि बड़े-बड़े कहलाने वाले, कहा जाता है कई हजार वर्ष तक तप किये किंतु कुसंग में पड़कर भ्रष्ट हो गये। कई हजार वर्ष तक तप किये यह तो अतिशयोक्ति है। लेकिन वे जीवन में सर्वाधिक तप किये। उनमें कुछ उन्माद था, अतः वे कुसंग में पड़ गये और संगदोष ने उन्हें चाट लिया। संगदोष में पड़कर समर्थ साधक भी नष्ट हो सकता है, किंतु संगदोष से रहित अच्छी संगत में रहकर निर्बल साधक भी सन्मार्ग में बना रह सकता है। अच्छी संगत में रह कर भी कोई मन में कुटिलता, कुचाल छिपा कर रखे, तो उसे अच्छी संगत का फल नहीं मिलेगा। इसीलिए श्री विशाल देव ने कहा है–

वैराग्यवान के संग बिन, होय नहीं वैराग।
संगतहूँ फल न मिले, बिन साँचा मन लाग॥
अपने मन को डारि के, वैरागवान में लीन।
कबहुँ न बाँधे ताहि को, जो बंधन से हीन॥

(विशाल वचनामृत)

वैराग्यवान संत-गुरु की संगत करे और अपने मन के अहंकार को अलग धर दे। वैराग्यवान गुरु-संत के मन में अपने मन को मिला दे। जैसे

वे कहें, वैसे चले, तब साधक का कल्याण होगा।

छप्पय-19

भीख अन्न इकबार लौन बिन खाय रहत हूँ।
फटी गूदरी ओढ़ वृक्ष को छाँह गहत हूँ॥
घास पात कछु डारि भूमि पर नित प्रति सोवत।
राख्यो तन परिवार भार यह ताको ढोवत॥
इहि भाँति रहत चाहत न कछु तऊ विषय बाधा करत।
हरि हाय-हाय तेरी शरण आय पर्‌यों इनसो डरत॥[1]

मेरा आहार नीरस भिक्षा है। एक बार खाता हूं। शैय्या केवल जमीन है। परिवार के नाम पर केवल अपना शरीर है, और कोई नहीं है। शरीर पर बहुत पुराने कपड़े हैं। सैकड़ों टुकड़ों से जुड़ी हुई गुदड़ी है, किसी प्रकार से सिलकर ओढ़ लेता हूं। ऐसी स्थिति में भी विषयवासना नहीं निवृत्त होती।

भीख अन्न एक बार लौन बिन खाय रहत हूं। भिक्षा करके नमक के बिना एक बार कुछ खा लेता हूं। **फटी गूदरी ओढ़ वृक्ष को छाँह गहत हूँ।** फटी गूदड़ी ओढ़ लेता हूं और वृक्ष की छाया में रह लेता हूँ। **घास पात कछु डारि भूमि पर नित प्रति सोवत।** जमीन पर घास-पात डाल कर सो जाता हूं। **राख्यो तन परिवार भार यह ताको ढोवत।** यह देह ही परिवार है, इसी को ढो रहा हूं। **इहि भाँति रहत चाहत न कछु तऊ विषय बाधा करत।** इस प्रकार रहता हूं, किसी से कुछ नहीं चाहता हूं। तब भी विषय वासनाएं मन में आ जाती हैं। **हरि हाय हाय तेरी शरण आय पर्‌यों इनसो डरत।** इनसे डरते हुए–हे भगवान! तेरी शरण में आया हूं। ऐसा भगवान कहीं नहीं मिलेगा जो पुकारने से मिले। भगवान, सद्‌गुरु-संत ही हैं। वे अपनी साधना में स्वयं ठहरे हैं। इनको छोड़ने वाला अभागा है। सद्‌गुरु, संत तथा स्वयं आत्मा की शरण में ही आदमी विषयवासनाओं को निवृत्त करके अपना कल्याण कर सकता है।

---

1. भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकबारं, शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमयी च कन्था, हा हा तथाऽपि विषया न परित्यजन्ति ॥19॥

छप्पय-20

कुच आमिष की गाँठ कनक के कलश कहत छवि।
मुख हूँ कफ के धाम कहत शशि के समान कवि॥
झरत मूत्र अरु धातु भरी दुर्गन्ध ठौर सब।
ताको चंपक बेल कहत रस रेल ठेल दब॥
यह नारि निहारी निन्द तन बहके विषई बावरे।
याको बढ़ाय वाको विरद बोले बहुत उतावरे॥

कवियों ने स्त्रियों के अंगों का ऐसा वर्णन किया है कि उसको पढ़-सुनकर मनुष्य का शुद्ध मन भी भटक जाय। रामानन्द संप्रदाय के संत स्वामी भगवदाचार्य जी वैराग्यवान और विद्वान पुरुष थे। एक साधक ने उनको पत्र लिखा कि महाराज, मैं कॉलेज में पढ़ रहा हूं, साधना से रहना चाहता हूं। आप रास्ता बतावें। उन्होंने उत्तर दिया कि संस्कृत और उर्दू साहित्य न पढ़ना। ये बुद्धि भ्रष्ट करने वाले हैं।

जिसको कनक का कलश कहते हैं, वह स्तन मांस का लोथड़ा है। जिसको चन्द्रमा के समान कहते हैं, वह मुंह थूक-खंखार का घर है। जिसको चंपक-बेला कहते हैं, वहां से पेशाब और धातु झरती है और हरदम दुर्गन्ध से भरा रहता है। शरीर जो गंदगी का घर है, ये पागल विषयी कवि लोग उसकी विरदावली गाने लगे और बड़े उतावले होकर उसका वर्णन करने लगे। इसीलिए संतों ने इसका खण्डन करने के लिए, नारियों की देह में घृणा उत्पन्न की है। नारियों को विषयी लोगों ने खिलौना बनाया। तो संतों ने कहा–क्या नारियों में आसक्त हो, ये टट्टी-पेशाब का घर हैं। इसमें नारियां नाखुश हो जाती हैं, लेकिन नाखुश होना नहीं चाहिए। संतों ने तो नारियों की रक्षा की है। वास्तव में नारियों का पूर्ण आदर विरक्त संत ही करता है। क्योंकि वह नारी मात्र को मां मानता है। पुरुष पतिंगे बनकर जलते हैं और नारियों को कष्ट देते हैं। उससे मन को हटाने के लिए संतों ने नारी-देह की सच्चाई बतायी है।

दोहा-21

जरत पतंगी अज्ञवश, मीन मांस के लोभ।
जानि बूझि हम विषय सों, विस्मय कर यह मोह॥

अज्ञानवश पतिंगे दीपक की ज्योति में जलते हैं और मछली चारे के लोभ से बंसी में फंसती है। लेकिन हम तो जान-बूझकर विषयों में जलते हैं। यह आश्चर्यजनक मोह है। मनुष्य समझदार है, और कामभोग में पड़ा है। एक बार पड़े, दो बार पड़े, देख लिये, जान लिये। जब-जब उसमें पड़े हो तब-तब मलिनता, खिन्नता, असंतोष ही मिला है। गृहस्थों को भी चाहिए कि उसमें न पड़ें। संतान हो गयी, बस हो गया, ब्रह्मचारी हो जाओ। विरक्त तो विरक्त है ही।

दोहा-22

भूमि शयन वल्कल वसन, फल भोजन जल पान।
धन मद माते नरन को, कौन सहत अहमान॥

भूमि पर सो जाना और पेड़ की छाल का वस्त्र बनाकर पहन लेना, फल का भोजन कर लेना, नदियों का पानी पी लेना अच्छा; लेकिन धन से उन्मत्त लोगों का अहंकार सहना अच्छा नहीं है।

छप्पय-23

भये जगत में धन्य धीर जिन जगत रच्यो है।
काहू धार्‌यो शीश अजों वह नाहिं लच्यो है॥
काहू दीन्हो दान जीत काहू वश कीन्हों।
भुवन चतुर्दश भोग कियो काहू यश लीन्हों॥
इमि अधिक एक सो एक भे तुम हो किन में तुच्छवित।
दस बीस नगर के नृपति ह्वै यह मद को ज्वर तोहि कित॥

भर्तृहरि जी स्वयं राजा थे। विरक्त हुए तो रजवाड़ों के अहंकार से उनको बड़ी घृणा हुई। वे कहते हैं कि जगत के लोग दुख भोगते हैं, जिन्होंने जगत को ही रच डाला, ब्रह्मा भी एक मनुष्य थे, संसार में आये और पूरे संसार को उन्होंने बना डाला। संसार में आये तो संसार को कैसे बना डाला? इसी से ही पता चल जाता है कि यह रूपक मात्र है। संसार में ऐसे भी लोग होते हैं, जो संसार को रच डालते हैं। जैसे लोग कहते हैं—

स्वतंत्र भारत जवाहर लाल की देन है, जवाहरलाल का भारत। जबकि भारत तो सदा से है। जवाहर लाल ने तपस्या की, बहुत सारे नेताओं ने तपस्या की। जवाहरलाल को प्रधानमंत्री बनने का चांस पड़ा, और अपनी सूझबूझ के अनुसार उन्होंने देश की सेवा की। इसी प्रकार जगत रचना की बात है। जगत में काफी कुछ काम करने वाले हुए कि वे पूरे जगत में गूंज गये। अतः वे जगत की रचना करने वाले कहे गये।

काहू धार्‍यो शीश अजों वह नाहिं लच्यो है। ऐसे भी हुए हैं जो पृथ्वी को अपने शीश पर धर लिए। पृथ्वी के भार सिर पर धरे हैं, वे शेष जी हैं। ब्रह्मा ने तो जगत बना डाला और शेष जी ने अपने सिर पर उसे रख लिया। ऐसे-ऐसे वीर हुए हैं। ये दोनों ही काल्पनिक हैं। लेकिन बातों को समझाने के लिए ऐसी बात कहते हैं। बलि ने इस पृथ्वी को दान में दे दिया। कोई अपने बाहुबल से जीत कर पूरी पृथ्वी पर चक्रवर्ती सम्राट हो गया और चौदहों भुवन का राज्य किया, यश प्राप्त किया। इस प्रकार संसार में एक से एक हुए हैं। उनमें से तुम कौन हो? ऐ रजवाड़ो, तुम दस-बीस नगर के राजा हो गये और तुमको इतना अहंकार का बुखार चढ़ा हुआ है? बड़े-बड़े हुए और वे नहीं रह गये, उनके नामलेवा नहीं रह गये। तो तुम्हारे में क्या दम है? ऐसा तो देखते-देखते हो जाता है।

भारत आजाद होने के पूर्व मैंने रजवाड़ों और जमींदारों को देखा। उनके पीछे पीकदान लिए खड़े उनके खिदमतगारों को देखा। भारत स्वतंत्र होने के बाद उनकी दशा देखी। जब एक रियासतदार के निमंत्रण पर उनके यहां पहुंचा तो उनका खिदमतगार नहीं दिखा। मैंने कहा, वह कहां गया है। उन्होंने कहा, खेत में गया है। जो पीकदान लेकर हमेशा पीछे खड़ा रहता था, वह खेत में गया था। उनके बिस्तर की चद्दर बड़ी गंदी थी। उन्हें दिखाई भी कम देता था। भवन विशाल था, क्योंकि रियासतदार थे। वे बेचारे स्वयं टटोलते-टटोलते उठे और स्वागत में अंदर से दूध लाये, शक्कर लाये। अनेक ऐसे को देखा भारत आजाद होने के पूर्व और पीछे। खुदाई में जगह-जगह भिट्ट मिलते हैं। वे किला के अवशेष हैं। यह पता नहीं चलता कि वहां कौन राजा था। अब उनका क्या रखा है?

छप्पय-24

तुम पृथ्वी पति भूप भरे अभिमान विराजत।
हम पाई गुरु गेह बुद्धि बल ताके गाजत॥
तुम धन सो विख्यात सुकवि गावत कछु पावत।
हम यश सो विख्यात रहत निशि द्योस पढ़ावत॥
तुम हमहिं बीच अंतर बड़ो देखो सोच विचार चित।
येते पर मुख फेरिहो तो मोको एकांत हित॥

इसे चाहे कल्पना में भर्तृहरि जी ने लिखा हो। क्योंकि कवि ज्यादातर कल्पना में लिखता है, और एक सत्य का उद्घाटन करता है। कभी-कभी चांस पड़ जाता है, घटना घट जाती है, अगर घटना घटी तो भर्तृहरि जी किसी राजा के यहां साधु रूप में गये होंगे। देखे कि उसमें अकड़बाजी है, तब उन्होंने कहा–

तुम पृथ्वी पति भूप भरे अभिमान विराजत। तुम पृथ्वीपति हो और अभिमान में डूबे हो। **हम पाई गुरु गेह बुद्धि बल ताके गाजत।** हमने भी गुरु का घर पाया है। गुरु का समाज पाया है, और गुरु-ज्ञान के बल से मैं भी गाज रहा हूं। **तुम धन सो विख्यात सुकवि गावत कछु पावत।** तुम धन से विख्यात हो, और कवि लोग आते हैं कुछ गाते हैं, तुम्हारी प्रशंसा करते हैं और तुम उन्हें कुछ देते हो। **हम यश सो विख्यात रहत निशि द्योस पढ़ावत।** हम भी अपने गुरु-ज्ञान के सुयश से विख्यात हैं। हम मुमुक्षुओं को रात-दिन आत्मज्ञान की विद्या पढ़ाते हैं। **तुम हमहिं बीच अंतर बड़ो देखो सोच विचार चित।** तुम अपने चित्त में सोचो, विचारो और देखो, हमारे-तुम्हारे में बहुत अंतर है। तुम माया के मालिक हो, हम ज्ञान के मालिक हैं। **येते पर मुख फेरिहो तो मोको एकांत हित।** इतने पर भी तुम विमुख होते हो, तो मैं एकांत जा रहा हूं। तुम्हारी हमें कोई जरूरत नहीं।

छप्पय-25

क्षणहूँ छाड़ी नाहिं भोग भुगती वह भूपनि।
कुलटा सो यह भूमि लाभ मानत महीप मनि॥

ताहू के इक अंग के सु अंगहि को पावत।
राखत हैं करि कष्ट दिवस निशि चहुँदिश धावत॥
अपनी ओर कि होत यह यातें पचि पचि रचि रहे।
पछितैबो को जग विषय जड़ उलटे सुख गनि रहे॥

क्षणहूँ छाड़ी नाहिं भोग भुगती वह भूपनि। ये भूप लोग, राजा लोग भोगों को एक क्षण भी छोड़ना नहीं चाहते। रात-दिन भोग में पड़े-पड़े सड़ते रहते हैं। **कुलटा सो यह भूमि लाभ मानत महीप मनि।** यह जमीन कुलटा के समान है। कुलटा उस स्त्री को कहते हैं जो आज एक पति बनाये और कल दूसरा, परसों तीसरा। उसी प्रकार यह जमीन, यह पृथ्वी है। अनेक स्वामी बनाती है और किसी की नहीं रहती है। **ये वसुधा काहू की न भई।**

कहा जाता है, एक महात्मा के पास एक युवती आई और उसने कहा मुझसे शादी कर लो। महात्मा ने कहा, तेरी क्या उम्र है। उसने कहा, मैं अनादि काल की हूं। महात्मा ने कहा, आज तक तेरी शादी क्यों नहीं हुई? उसने कहा, जो मुझे चाहता है, उसको मैं नहीं चाहती हूं और जिसको मैं चाहती हूं, वह मुझे नहीं चाहता, इसलिए शादी नहीं हुई। महात्मा ने कहा, मैं भी तुझे नहीं चाहता हूं। इसका अर्थ यही है कि माया सदा कुआंरी है।

ताहू के इक अंग के सु अंगहि को पावत। राखत हैं करि कष्ट दिवस निशि चहुँदिश धावत। इस पृथ्वी में थोड़ा-सा अंश एक राजा दबाये बैठा है। उसमें से छोटा-सा अंश तालुकेदार पा गया है। बड़े कष्ट से उसको रख रहे हैं। उसके लिए रात-दिन दौड़ रहे हैं। **अपनी ओर कि होत यह यातें पचि पचि रचि रहे।** इतनी जमीन मेरी रहे, इतना भूखण्ड मेरा रहे, इसके लिए पच-पच कर मर रहे हैं। **पछितैबो को जग विषय जड़ उलटे सुख गनि रहे।** संसार के विषय तो पश्चाताप करने योग्य हैं, लेकिन मूर्ख उसमें सुख मानते हैं। संसार के ऐश्वर्य में उन्मत्त लोगों को धिक्कारते हुए भर्तृहरि जी कहते हैं कि जिसमें तुम चिपकते हो, जिसमें अहंता-ममता करते हो, जिसको लेकर तुम्हें बड़ा घमण्ड है, वह कुछ नहीं है। वह आजकल में खो जायेगा। **एक दिन जाय लंगोटी झाड़ बंदा।** जिस पर तुम्हारा अपना स्वत्व है, अधिकार है, जो तुम्हारा अपना है, वह आत्मअस्तित्व है। इसलिए साधक को चाहिए कि संसार के सारे मोह को

त्यागकर अपने आत्माराम में विश्राम करे। आजकल में ऐसा समय आयेगा ही। यदि एक्सीडेण्ट से शरीर छुटेगा तो एकदम तुरंत खत्म हो जायेगा, अथवा अधमरा होकर धीरे-धीरे छुटेगा। बिस्तर पर छुटेगा तो धीरे-धीरे नस-नाड़ियां सिमटेंगी और भूलते-भूलते सब कुछ भूल जायेगा। **जहाँ के तहाँ रहि जइहैं, तन पिंजड़ा न अइहैं काम पंछी उड़ि जइहैं।** यहां तुम्हारा कुछ नहीं है। तुम्हारा केवल तुम हो। अपने को पाओ। अपने के लिए तुम बहुत हो। हम अपने को समझ जायें, अपने को पा लें, अपने में समाहित हो जायें तो धन्य हो जायें।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

21 सितम्बर, 1995 ई०)

तीसरा प्रवचन

छप्पय-26

यह मृतका को पिण्ड रहत जल माहिं निरन्तर।
सोऊ सब की नाहिं तनक सों ताहू में डर॥
करत हजारन अंग भूप तब भोग करत पित।
मिटत आपनी प्यास दान को होत कहा चित॥
ऐसे दरिद्र दुख सों भरे तिनहूँ सो जो चहत धन।
धिक्कार जन्म वा अधम को सदा सर्वदा लीन मन॥

यह मृतका को पिण्ड रहत जल माहिं निरन्तर। यह भूमण्डल मिट्टी का एक लौंदा है। यह सदैव जल में रहता है। पृथ्वी के बहुत हिस्से पर जल है और जितना हिस्सा जल से अलग है, वह भी सबकी नहीं है। तनिक-सा हिस्सा कहीं मिलता है, और उसमें भी डर लगा रहता है कि कहीं छिन न जाय। **करत हजारन अंग भूप तब भोग करत पित।** इस जमीन के हजारों अंग करके राजा लोग बांट-बांट कर छीन-छीनकर अपना राज्य कायम करते हैं, और उसका भोग करते हैं। **मिटत आपनी प्यास दान को होत कहा चित्त।** राजाओं की भूख नहीं मिटती है, तब दान करने का मन इनके चित्त में कहां होगा? **ऐसे दरिद्र दुख सों भरे तिनहूँ सो जो चहत धन।** ये राजे-महाराजे अत्यंत दरिद्र हैं, और दुख से भरे हैं। इनको स्वयं नहीं अंटता है। इनसे जो धन चाहता है। **धिक्कार जनम वा अधम को सदा सर्वदा लीन मन।** ऐसे रजवाड़ों से जो धन चाहता है, उसको धिक्कार है। वह सदा-सर्वदा अपने मन के कुविचार में लीन है।

यह भूमण्डल छोटा है। उसमें भी बहुत हिस्से में पानी भरा है। बहुत हिस्से में पर्वत है, और भी ऊबड़-खाबड़ है। थोड़ा-सा हिस्सा है, जो

उपजाऊ है और काम का है। उसमें भी हजारों रजवाड़ों ने छीन-छीन कर, काट-काट कर अपना आधिपत्य किया है। उसमें भी सबको डर लगा रहता है कि कब हमारा कितना क्षेत्र छिन न जाय। ये सब रजवाड़े दरिद्र हैं, दुख से भरे हैं। ये स्वयं संतुष्ट नहीं हैं। अतएव इन दरिद्रों से जो धन चाहता है, उसको धिक्कार है। जहां तृष्णा है, वहां दरिद्रता है।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि दरिद्र कौन? जो असंतुष्ट है। कृपण कौन है? जो जितेन्द्रिय नहीं है। ईश्वर कौन है? जो विषय-वासनाओं से ऊपर है। और जो विषयों में आसक्त है, वह गुलाम है।[1]

दोहा-27

नट भट विट गायन नहीं, नहिं वादिन के मांहि।
कौन भांति भूपति मिलन, तरुणी भी हम नाहिं॥

वैराग्यवान कहते हैं कि इन रजवाड़ों से मेरी मुलाकात कैसे हो सकती है। अगर मैं नट होता तो इन रजवाड़ों से मिल सकता। तमाशा दिखाने के लिए पहुंचूं तो रजवाड़े मिल जायेंगे। यदि भाट होऊं और इनका गुण गाऊं तो रजवाड़े मिल सकते हैं। विदूषक होऊं तो मनोरंजन के बहाने रजवाड़ों से मिल सकते हैं। यदि गायक होऊं तो रजवाड़े मिल सकते हैं। वाद-विवाद करने की भी मेरी आदत नहीं है। वाद-विवाद करने का यदि ढंग हो तो भी रजवाड़े मिल जायें। मैं तरुणी भी नहीं हूं जो राजा से मिल सकूं। मैं साधु हूं। साधु की आवश्यकता राजा को नहीं होती।

दोहा-28

विद्या दुख नाशक हती, फेरि विषय सुख दीन।
जात रसातल को चली, नृपन के मति हीन॥

पहले विद्या दुख का नाश करने वाली होती थी। विद्या का अर्थ ही है अविद्या का मिट जाना। योग दर्शन में कहा है—

---

1. दरिद्रो यस्त्वसंतुष्ट कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः॥भागवत 11/19/44॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्य शुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

शरीर अनित्य, अशुचि, दुखपूर्ण और अनात्म है। उसे नित्य, रमणीय, सुखप्रद तथा अपना स्वरूप मानना अविद्या है, अज्ञान है। और शरीर जैसा है अनित्य, अशुचि, दुखपूर्ण तथा अनात्म उसे उसी तरह मानना विद्या है, ज्ञान है।

जब मन में पूर्ण विद्या का उदय हो जाता है, तब देहाभिमान पूर्णतया नष्ट हो जाता है और जीव अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस स्थिति में सारे दुखों का नाश हो जाता है। तो पहले विद्या दुख का नाश करने वाली थी। आगे चलकर धनार्जन-बुद्धि को विद्या कहा जाने लगा। इस विद्या के पढ़ने-पढ़ाने का मतलब है पैसा कमाना और इन्द्रियों के भोगों की सामग्री इकट्ठा करना। लेकिन अब तो विद्या ऐसी हो गयी है, कि वह रसातल को जा रही है। भोग तक ही नहीं, विनाश की तरफ जा रही है। इन राजाओं की बुद्धि भ्रष्ट है, जो विद्या का उद्धार नहीं कर रहे हैं। भर्तृहरि जी ने यह शताब्दियों पूर्व कहा था। आज भी वही रोना रोया जा रहा है।

दोहा-29

ऐसो हूँ जग में भये, मुण्ड माल शिव कीन।
धन लोभी नर नवत लखि, तुम को मद ज्वर दीन॥

संसार में ऐसे लोग भी हो गये, जिनके मुण्डों की माला शिव जी ने धारण किया। कहा जाता है, शिव जी की पत्नी जब मर जाती थीं, तब वे उनका सिर काटकर उसे माला में पिरो लेते थे। शिव तो सदा रहते थे, लेकिन उनकी पत्नी मरती रहती थीं। यह काल्पनिक कथन है, लेकिन अर्थ यह है कि शिव जैसे महान पुरुष, जिसके मुण्डों की माला पहन लें, ऐसे प्रभावशाली लोग हो चुके हैं। तुम रजवाड़े किस खेत की मूली हो। धन के लोभी तुम्हारे सामने सिर झुकाते हैं, और तुमको अहंकार का बुखार लग जाता है कि हम बहुत बड़े हैं ! तुम बड़े क्या हो?

छप्पय-30

तुम अवनी के ईश ईश हमहूँ वाणी के।
तुम हो रण में धीर वीर गाढ़े अति जी के॥

त्यों ही विद्या वाद करत हमहूँ नहिं हारे।
प्रतिपक्षी के मान मारि अपने विस्तारे॥
धन लोभी सेवत तुम्हें हमको शिव श्रोता भले।
तुम को न हमारी चाह तो हमहूँ ह्याँ से उठ चले॥

रजवाड़ों को फटकारते हुए भर्तृहरि जी कहते हैं कि तुम पृथ्वी के ईश्वर हो। जमीन का थोड़ा-सा टुकड़ा पा लिए हो और उसका ईश्वर बने बैठो हो। **तुम अवनी के ईश ईश हमहूँ वाणी के।** तुम पृथ्वी के ईश्वर हो तो हम वाणी के ईश्वर हैं, हम ज्ञान दाता हैं। **तुम हो रण में धीर वीर गाढ़े अति जी के।** तुम रण में वीर हो, धीरवान हो, अपने जी के गाढ़े हो, मजबूत हो और लड़ाई में पिछड़ते नहीं हो। **त्यों ही विद्या वाद करत हमहूँ नहिं हारे। प्रतिपक्षी के मान मारि अपने विस्तारे।** हम भी विद्या-वाद करने में नहीं हारते हैं, और प्रतिपक्षी के मान को मार कर अपनी विद्या का विस्तार करते हैं। इसलिए हम भी वीर हैं। **धन लोभी सेवत तुम्हें हमको शिव श्रोता भले।** धन के लोभी तुम्हारी सेवा करते हैं, और शिव के श्रोता हमारी सेवा करते हैं। जो कल्याण चाहते हैं, वे पवित्रात्मा, मुमुक्षु हमारी सेवा करते हैं। **तुमको न हमारी चाह तो हमहूँ ह्याँ से उठ चले।** अगर तुम मुझे नहीं चाहते हो, तो मैं भी यहां से जा रहा हूँ। इस प्रकार भर्तृहरि जी रजवाड़ों को फटकारते हैं। यह बहुत ऊंची बात तो नहीं है। वैराग्यवान को चुप रहने की जरूरत है, कोई क्या कहता है, वह जाने। इसलिए वैराग्यवान को विद्या-विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है।

भर्तृहरि जी के इस पद में वैराग्य है, जो रजोवृत्ति संबलित है। तुम रण में वीर हो, तो हम विवाद करने में वीर हैं। तुम अपने दुश्मन को पछाड़ते हो, तो हम अपने प्रतिपक्षी को पछाड़ते हैं। तुम राज्य का विस्तार करते हो, तो हम विद्या का विस्तार करते हैं। तुमसे हम कम नहीं, ज्यादा हैं। धन के लोभी तुम्हारी सेवा करते हैं और हमारी सेवा करने वाले शिव-श्रोता हैं। जो कल्याण चाहते हैं, मुमुक्षु हैं वे हमारी सेवा करते हैं। इसलिए हम तुमसे श्रेष्ठ हैं, तुम घमण्ड मत करो।

छप्पय-31

जब हौं समझौं नेक तबै सर्वज्ञ भयो हौं।
जैसे गज मदमत्त अन्धता छाय गयो हौ॥
जब सत्संगत पाय कछुक हौं समझन लाग्यों।
तबहिं भयों अति मूढ़ गर्व गुण को सब भाग्यो॥
ज्वर चढ़त-चढ़त अति ताप ज्यों उतरत शीतल होय तन।
त्यों मन को मद उतरि गौ लियो शील संतोष मन॥

जब मैं थोड़ा समझा, तब अपने को सर्वज्ञ मान लिया। अल्पज्ञानी अहंकारी होता है। जब मद चढ़ता है तब हाथी उन्मादी हो जाता है, वैसे मैं उन्मादी हो गया। **जब सत्संगत पाय कछुक हौं समझन लाग्यों।** सत्संग पाकर जब मैं कुछ समझने लगा, **तबहिं भयों अति मूढ़ गर्व गुण को सब भाग्यो।** तब मैंने समझा कि मैं बड़ा मूढ़ हूं। अभी मैं बहुत कम जानता हूं। अपने जीवन में जो गुण है, उसका भी अहंकार भाग गया। **ज्वर चढ़त चढ़त अति ताप ज्यों उतरत शीतल होय तन।** जब बुखार चढ़ने लगता है, तब शरीर में ताप बढ़ने लगता है। जितना बुखार चढ़ता है उतना ताप बढ़ता है। आदमी का ज्ञान जितना बढ़ता है, उतना वह अहंकारी होता जाता है। वहां ज्ञान नहीं, अज्ञान रहता है, जानकारी का प्रमाद रहता है। लेकिन जब बुखार उतर जाता है, तब शरीर शीतल हो जाता है। जितना बुखार उतरता गया, उतना शीतल होता गया। इसी प्रकार हमारा अहंकार घटता गया और मैं शीतल होता गया। **त्यों मन को मद उतरि गौ लियो शील संतोष मन।** जब हमारे मन का मद उतर गया, तब मन में शील और संतोष आ गये।

दोहा-32

रमण काल यौवन गयो, थक्यो भ्रमत संसार।
देहुँ गंग तट शेष वय, शिव शिव जपत बिसार॥

मेरी जवानी भोग में बीत गयी। प्रौढ़ अवस्था संसार में भटकते-भटकते बीत गयी। परिवार की रक्षा और दुनियादारी की चिंता में जीवन बीत गया। अब जीवन का थोड़ा समय है; भर्तृहरि जी कहते हैं कि उसे गंगा के किनारे बैठकर शिव-शिव जपकर बिता देना है।

जीवन का जितना हिस्सा अवशेष है, उसे साधु-संगत में बैठ कर अपने आपको समझे और बंधनों को समझे तथा बंधनों को काटे और अपना उद्धार करे। स्वयं स्वरूप जीव ही शिव है। जहां अपना कुछ भी साथ नहीं है वहां किसका मोह किया जाय। इस संसार में किसी वस्तु का मोह करना अपने आप को धोखे में डालना है। मोक्ष ऐसा देवता है जो सब कुछ त्याग देने के बाद मिलता है। उसके पास नंगे जाओ, तब वह मिलेगा। कुछ लेकर जाओगे तो नहीं मिलेगा। क्योंकि सबकी अहंता-ममता के विसर्जन के बाद ही असंगता आती है।

दोहा-33

गयो मान यौवन सुधन, भिक्षक जात निराश।
अब तो मोको उचित यह, श्री गंगा तट वास॥

जवानी चली गयी, सम्मान चला गया, हाथ में धन भी नहीं है। भिक्षु भी दरवाजे पर आता है, उसको कुछ दे नहीं मिलता। अब तो यही उचित है कि गंगा के किनारे चलें और भजन करें। बहुत खो दिये अपने को हासा-जोशी में पड़कर; लेकिन अवशेष समय खोवें न, भजन में लगावें।

दोहा-34

तू ही रीझत क्यों नहीं, कहा रिझावत और।
तेरे ही आनन्द से, चिंतामणि सब ठौर॥

वैराग्यवान कहते हैं कि तू अपने आप में क्यों नहीं मस्त हो जाता, क्यों दूसरे को रिझा रहा है? दूसरे को खुश करने के चक्कर में क्यों पड़ा है? दूसरा कहां खुश रहता है। स्वयं खुश रह, स्वयं प्रसन्न रह, और प्रसन्नता तब आयेगी, जब मन का पाप मिटेगा। यह पापी मन कभी खुश नहीं हो सकता। दूसरे ने ऐसा व्यवहार कर दिया, जिससे मुझे नाखुशी हो गयी, यह कहना घोर अज्ञान है। दूसरे के किसी प्रकार के व्यवहार करने से अगर हम असंतुष्ट हैं तो हम पशु हैं। पशु को आदमी जिधर हांकता है, उधर पशु चलता है, लेकिन आदमी स्वयं स्वतंत्र होकर चलता है। किसी के व्यवहार से हम नाखुश हो गये तो पशु हैं।

किसी ने दुर्व्यवहार कर ही दिया और उससे हम दुखी हो गये तो हम

पशु हैं। पशु बनकर ही दुखी हुआ जाता है। लेकिन पशु भी ऐसे व्यवहार से दुखी नहीं होता है। दुखी तो हम अपने पाप के कारण होते हैं। हमारा अहंकार, हमारी आसक्ति, हमारी कामनाएं हमें जलाती हैं। हमें थोड़ी-थोड़ी बातों में इनके कारण ही ठेस लगती है। थोड़ी-थोड़ी बातों में हम क्षुब्ध हो जाते हैं। वैराग्यवान कहते हैं कि तुम दूसरे को क्यों रिझा रहे हो? दूसरे को खुश करने के चक्कर में क्यों हो? अपना खुश रहो, स्वयं प्रसन्न रहो बस। जितना मन का पाप मिटेगा उतनी प्रसन्नता रहेगी। जब मन बिलकुल निष्पाप हो जायेगा, तब मन पूरा प्रसन्न हो जायेगा। तुम्हें दुख देने वाले तुम खुद हो। यह पक्का समझ लो कि तुम्हें कोई दुख नहीं दे सकता है। तुम्हीं खुद को दुख देते हो। **तेरे ही आनन्द से चिंतामणि सब ठौर।** जब तेरा चित्त शांत होगा तब सब समय चिंतामणि है। जहां जाओ वहां चिंतामणि है। मन की तृप्ति, मन का संतोष चिंतामणि है।

छप्पय-35

बहुत भोग को संग तहाँ इन रोगन को डर।
धनहूँ को डर भूप अग्नि अरु त्यों ही तस्कर॥
सेवा में भय स्वामि समर में शत्रुन को भय।
कुलहू में भय नारि देह को काल करत क्षय॥
अभिमान डरत अपमान सो गुन डरपत सुनि खल सबद।
सब गिरत परत भय सो भरे अभय एक वैराग्य पद॥

आदमी जितना भोगी होगा उतना रोगी होगा, यह पक्का है। धन अधिक बढ़ेगा तो राजा का डर होगा। इन्कमटैक्स विभाग वाले आज ही नहीं हैं, सदा से हैं, नाम कुछ रहा हो। आज तो थोड़ा कानून-वानून पेश करके तब सरकार धन लेती है। पहले तो राजा बलात ले लेते थे। आग और चोर का डर लगा ही रहता था।[1]

---

1. भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयम्।
मानें दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥35॥

सेवा में भय स्वामि, समर में शत्रुन को भय। सेवा में स्वामी का भय लगा रहता है। स्वामी खुश है कि नहीं। युद्ध में शत्रुओं का भय लगा रहता है। **कुलहू में भय नारि देह को काल करत क्षय।** कुल-परिवार में स्त्री का भय है। स्त्री के पैर कहीं ऊंचे-नीचे हो गये, तो बड़ी बदनामी होगी। जवानी को बुढ़ापा घेरे हुए है। जवान लोग, जिनकी अभी मूछें ठीक से नहीं आई हैं, अगर वे बूढ़ों को देखकर मुस्कराते हैं कि देखो, ये बूढ़े लोग, पके-पके बाल वाले हैं तो वे सब भी एक दिन बूढ़े हो जायेंगे। कबीर साहेब ने कहा है–

पात झरंता देखि के, हंसती कुपलियां।
हम चाले तुम चालिहो, धीरी बापलियां॥ कबीर साखी॥

पतझड़ देखकर कोमल पत्ते हंसने लगे। अरे! ये पीले-पीले कड़े-कड़े हैं, इसलिए झड़ रहे हैं। तब पीले पत्तों ने कहा, ऐ पगले! हम चले, लेकिन यह दशा तुम्हारी भी होगी। इसलिए जवानों को अहंकार नहीं करना चाहिए। क्योंकि थोड़े वर्षों में ये जवान भी बूढ़े होंगे। शरीर को काल क्षीण कर रहा है।

अभिमान डरत अपमान सो गुन डरपत सुनि खल सबद। अभिमानी, अहंकारी आदमी को अपमान का डर रहता है। अभिमानी आदमी जहां जाता है, सोचता है कि हमारा अपमान न हो जाय। हम नीचे-पीछे न बैठाये जायें। हमारी पूजा पीछे न हो। महंतों के बीच में जाओ तब यह रोग देखने में ज्यादा आता है। पहली बार जब मैं महंतों के बीच गया तो वहां जो संकट और नरक देखा कि हद्द था। दाहिने कौन बैठेगा? बांये कौन बैठेगा? आगे कौन बैठेगा? पीछे कौन बैठेगा? भोजन के समय किसका पाटला एक सूत ऊंचा है? भोजन की थाली किसकी पहले आई? भोजन की थाली एक सेकेण्ड के पहले जिसके सामने जाय, वह बड़ा है, और एक सेकेण्ड पीछे आई वह छोटा है। यह बात नहीं कि सब महंत ऐसे होते हैं। निर्मान महंत भी होते हैं। महंत हैं लेकिन विनम्रता से आगे जमीन में ही बैठ जाते हैं और सेवा करने लगते हैं। तो अभिमानी आदमी को अपमान का डर लगा रहता है।

गुन डरपत सुनि खल सबद। सद्गुणियों की निंदा दुष्ट लोग करते रहते हैं। और अगर मौन हैं तो बुद्धू हैं। अगर अंग सुगठित नहीं हैं तो

कहते हैं महाभद्दा है। सुन्दर है तो कहते हैं कामी है। सुन्दर होना कामी का लक्षण थोड़े है। काम तो मन का विकार है। तो सद्गुणों में दुर्गुण खोजने वाले दुष्ट लोग होते हैं। इस प्रकार दुनिया के सारे वैभव दुख से भरे हैं। इसलिए '**भुवि नृणाम्**' संसार में मनुष्य के लिए **वैराग्यमेवाभयम्** वैराग्य ही निर्भय पद है। मोह नहीं, राग नहीं तो क्या भय। इसलिए वैराग्य करो, जिससे निर्भयता मिले।

कुण्डलिया-36

जैसे पंकज पत्र पर जल चंचल ढरि जात।
त्यों ही चंचल प्राण हू तजि जइहैं निज गात॥
तजि जइहैं निज गात बात यह नीके जानत।
तौ हू छाँड़ि विवेक नृपन की सेवा ठानत॥
निज गुण करत बखान निलजता उघरी ऐसे।
भूल गयो सत ज्ञान मूढ़ अज्ञानी जैसे॥

'पंकज' जो पंक, कीचड़ से पैदा हो वह पकंज है। कीचड़ से कमल, कुमुदनी, मोथा, थोथा अनेक वनस्पतियां पैदा होती हैं, और ये सब पंकज हैं, लेकिन पंकज रूढ़ है कमल के लिए।

पूरी दुनिया में तीन प्रकार के शब्द होते हैं। रूढ़, योग और योगरूढ़। रूढ़ शब्द ही प्राकृतिक है। योग शब्द विद्वता से बनाया जाता है। सरल भाषा पहले होती है। संस्कृत भाषा यानी शुद्ध भाषा, विद्वान लोग गढ़ते हैं। गांव वाले फिर उस संस्कृत भाषा का अपभ्रंश कर देते हैं सरल बना लेते हैं। क्योंकि सरलता में कहने-सुनने में प्राकृत भाषा ही सरल होती है। रूढ़ शब्द जैसे—लोटा, घोड़ा, घर आदि। रूढ़ नाम रख लिया और कहना-सुनना शुरू कर दिया। योग शब्द—दो शब्दों के जोड़ से बनता है, जैसे—हिमालय, हिम+आलय—'हिम' बर्फ और 'आलय' घर। जहां बर्फ हो, हर समय बर्फ हो, वह हिमालय है। यह योग शब्द है। योगरूढ़ शब्द, दो शब्दों के योग से बनता है लेकिन किसी एक वस्तु विशेष के लिए रूढ़ हो जाता है। उसे योगरूढ़ शब्द कहते हैं; जैसे—पंकज। पंकज योगरूढ़ शब्द है। यह योग भी है और रूढ़ भी है। पंक+ज, पंक = कीचड़, ज = उत्पन्न,

जो कीचड़ से उत्पन्न हो वह पंकज। वह कमल ही नहीं, कुमुदनी, मोथा, थोथा आदि अनेक घास हैं। ताल में देखो, पानी में कितनी घासें होती हैं। वह सब पंकज हैं, लेकिन पंकज शब्द रूढ़ हो गया कमल में। इसलिए 'पंकज' योगरूढ़ शब्द है।

जैसे पंकज पत्र पर जल चंचल ढरि जात। जैसे कमल के पत्ते पर पानी बूंद बनकर ढरक जाता है। **त्यों ही चंचल प्राण हू तजि जइहैं निज गात।** वैसे ही हमारा माना हुआ प्राण अत्यंत चंचल है। शरीर को अचानक छोड़कर चला जायेगा। यह बात हम अच्छी तरह से जानते हैं, तब भी हमारा अविवेक बना हुआ है। हम विवेक-विचार का काम न कर राजाओं की सेवा करते हैं। इन मंत्रियों के पीछे घूमते हैं। उस समय राजा कहे जाते थे, आज मंत्री कहना चाहिए। राजा तब तक राजा कहा जाता था, जब तक किसी द्वारा परास्त न कर दिया जाय। आजकल मंत्री परास्त होते रहते हैं। आज जो गद्दी पर है वह चार दिन के बाद सड़क पर है। आज जिसके लिए जहां जाता है जुलूस निकलता है किंतु कल जब वही आता है तो उसे कोई पूछने वाला नहीं रहता है। इतने नश्वर संसार में आकर हम विवेक, विचार और साधना नहीं करते हैं। और राजा तथा मंत्रियों के पीछे हीं-हीं करते घूमते रहते हैं। इतना ही नहीं, हम अपने गुणों का बखान करते हैं।

दोहा-37

नृपति सैन सम्पति सचिव, सुत कलत्र परिवार।
करत सबन को स्वप्न सम, नमों काल करतार॥

भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐ काल करतार! राजा को, संपत्ति को, सचिव को, मंत्रियों को, पुत्र को, पत्नी को, परिवार को तू सब को थोड़े समय में स्वप्न बना देता है। थोड़े दिनों में क्या रह जाता है? बड़े-बड़े रजवाड़े थोड़े दिनों में जमीन में चले गये, और उनका कुछ नहीं रहा। आज से तीस वर्ष पूर्व के मंत्रीगण आज कहां हैं? भारत आजाद होने के बाद सत्ता में आये हुए चाहे वह प्रधानमंत्री हों, चाहे गृहमंत्री, चाहे मुख्यमंत्री हों और चाहे रेलमंत्री हों, कहां हैं? कितने मंत्रियों के परिवार भी नहीं रह गये। कितने

लोगों का तो कुछ भी नहीं रहा, सब शून्य हो गया। भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐ काल करतार! तू सबको पीसकर रख देता है। सबका अहंकार चूर्ण कर देता है। कुछ भी नहीं रह जाता है।

छप्पय-38

जो जन्में हम संग उतो सब स्वर्ग सिधारे।
जो खेले हम संग काल तिनहू कह मारे॥
हमहूँ जरजर देह निकट ही दीसत मरिबो।
जैसे सरिता तीर वृक्ष को तुच्छ उखारिबो॥
अजहूँ नहिं छाड़त मोह मन उमग उमग उरझो रहत।
ऐसे अचेत के संग सों न्याय जगत दुख को सहत॥

जो हमारे साथ जन्म लिए थे, उनमें से अधिकतम लोग मर गये। जिनके साथ हमने खेला था, वे भी काल के गाल में समा गये। हमारा शरीर भी निरंतर जर्जर हो रहा है। मौत बिलकुल निकट आ रही है। जैसे नदी के किनारे लगे हुए वृक्ष के तट को नदी हरदम काटती है और वृक्ष की जड़ खोखली होती जाती है। वृक्ष अब गिरा, अब गिरा हो रहा है, वैसे मेरे शरीर की दशा है। ऐसी भयंकर स्थिति में भी यह मन मोह नहीं छोड़ रहा है। उमग-उमग कर उलझता रहता है। अभी भी इसको संसार में सुख की आशा बनी हुई है।

शरीर बूढ़ा हो चला, लेकिन आदमी अभी भी उमग-उमग कर चल रहा है। अभी वह बच्चों को सम्हाल रहा है। अपने को नहीं सम्हाल रहा है। अरे! परिवार को सम्हालते-सम्हालते तुम पिस गये हो, अब अपने को सम्हालो। एक पचहत्तर वर्ष का बूढ़ा आश्रम में आया। दूसरे दिन चलने लगा। मैंने कहा, रहो कुछ दिन, भजन-साधना करो। उसने कहा, महाराज! घर की जिम्मेदारी अभी मेरे ऊपर है। मैंने कहा, कितने बच्चे हैं। उन्होंने कहा—चार, दो व्यापारी हैं और दो सर्विस करते हैं। खेती और बाल-बच्चे मुझे सम्हालना पड़ता है। मैंने कहा, कब तक सम्हालेंगे, वह चुप रहा। पूछा, क्या उम्र है? बताया पचहत्तर। मनुष्य सबको सम्हाल रहा है, केवल अपने को नहीं सम्हाल रहा है। सरकार भी साठ साल में सेवामुक्त कर देती है, और कहती है, जाओ, घर बैठो, खाने-पीने का

प्रबन्ध हमारी ओर से। लेकिन ये गृहस्थ बूढ़े लोग और कई महंत लोग भी सेवामुक्त होना नहीं चाहते हैं। पूरा दल-बादल माथे पर थामे कब्र तक पहुंचना चाहते हैं। अपना उद्धार करना नहीं चाहते।

छप्पय-39

बहुत रहत जेहि धाम तहाँ एकहिं को राखत।
एक रहत जेहि ठौर तहाँ बहुतक अभिलाषत॥
फेरि एक हू नाहिं करी तहँ राज दुराजी।
काली के संग काल रची चौपड़ की बाजी॥
दिन रात उभय पासा लिये यहि विधि सो क्रीड़ा करत।
सब प्राणी सोवत मोह में मिलत चलत बिछुड़त मरत॥

जिस घर में बहुत लोग थे, घर भरा हुआ था। काल ने वहां एक व्यक्ति को छोड़ा और सब को मार डाला। जिसके घर में एक था, थोड़े दिनों में उसका घर प्राणियों से भर गया। **फेरि एक हूँ नाहिं करि तहँ राज दुराजी।** जिसका घर भरा था, उसमें एक व्यक्ति नहीं रह गया, राज-दुराजी हो गयी। **काली के संग काल रची चौपड़ की बाजी।** चौपड़ खेल में दो होते हैं इसलिए भर्तृहरि जी ने इसमें काल के साथ काली की कल्पना कर ली। मानो काल की पत्नी काली और काल दोनों चौपड़ खेल रहे हैं। कौन-से पासे हैं? रात-दिन के पासे फेंके जा रहे हैं। ये प्राणी सब गोटी बनाये गये हैं। यह क्रीड़ा रात-दिन चल रही है। सब प्राणी मोह में सो रहे हैं। मिलते हैं, बिछुड़ते हैं, चलते हैं, जन्मते हैं, मरते हैं। देखते-देखते यहां से उठते चले जा रहे हैं।

दोहा-40

तप तीरथ तरुणी रमण, विद्या बहुत प्रसंग।
कहा कहा मन रुचि करे, पायो तन क्षण भंग॥

तप करना अच्छा है, तीर्थों में घूमना अच्छा है, तरुणी स्त्री के साथ रहना अच्छा है, विद्या पढ़ना अच्छा है, और बहुत बातें अच्छी हैं, इस प्रकार मन सबमें चलता है, लेकिन शरीर तो क्षणभंगुर है। इसमें क्या-क्या

किया जाय? अब विचार करना है, कौन काम करने से दुख की निवृत्ति और कल्याण होगा? तरुणी या तरुण के साथ स्त्री या पुरुष रहे तो काम-उद्वेग में उलझते रहेंगे। यह अपने को धोखा देना है। और विद्या के चक्कर में पड़े तो विद्या का कोई ठिकाना नहीं है कि कितनी है। नीति वचन है–

बहुत विद्याएं हैं और शास्त्र भी बहुत हैं और समय थोड़ा है। इसलिए जैसे हंस नीर-क्षीर विवेक करके नीर को छोड़कर क्षीर ले लेता है वैसे हमें कल्याण-काम कर लेना चाहिए। बहुत विद्या, बहुत तप, तीर्थ आदि में भटकना नहीं चाहिए।

दोहा-41

ब्रह्म ध्यान धर गंग तट, बैठूंगो तज संग।
कबधों वह दिन होय गो, हिरन खुजावत अंग॥

भर्तृहरि जी कहते हैं, मैं ब्रह्मज्ञान, आत्मध्यान, आत्मलीनता में गंगा तट पर बैठा रहूंगा, और सारा संग छोड़ दूंगा। हिरण आयेंगे, मुझे निर्जीव पदार्थ समझकर मेरे शरीर से अपना अंग खुजलायेंगे और मैं ध्यान में लीन रहूंगा। ऐसा दिन कब आयेगा? इसमें अतिशयोक्ति है, लेकिन अतिशयोक्ति में सार है। ऐसी निर्द्वन्द्वता, ऐसी शांति मिलेगी, जहां पर सारे मोह का क्षय होगा और मैं अपने आप में मस्त रहूंगा।

दोहा-42

ज्योत्सना सों शित थल तहाँ, मुदित आँसु युत नैन।
कब रटिहौं तट गंग के, शिव-शिव आरत बैन॥

गंगा का शीतल तट होगा, चांदनी रात होगी, वहां अश्रुपूरित नेत्रों और प्रसन्न मन से करुणाविगलित होकर कब शिव-शिव जपूंगा। भर्तृहरि जी शैव थे, इसलिए वे जगह-जगह अपनी उपासना का पुट देते हैं। वस्तुतः आत्मा ही शिव है और आत्मलीनता ही शिव-भजन है।

दोहा-43

देव ईश सुरसरि सहित, दिशा वसन गिरि गेह।
सुहृत्काल वट कामिनी, व्रत अदैन्य सुख येह॥

देव ईश, देवता, ईश्वर हमारा आत्मा है। हमारा देव आत्मदेव है। भर्तृहरि जी शिव उपासक थे। इसलिए शिव उनका देव है, और हम भी शिव को मानते हैं। यह आत्मा ही शिव है। **प्रपञ्चोपशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।** प्रपंच के उपशमन होने पर शिवत्व का उद्घाटन होता है। जब मन शांत हो गया, तो प्रपंच शांत हो गया। प्रपंच नाम विस्तार। मन शांत हो गया, बस शिव है। आत्मा ही देवता है।

सुरसरि सहित गंगा का किनारा हो यह स्वाभाविक है। गंगा के किनारे तो कबीर आश्रम ही बना है। **दिशा वसन,** दिशाएं ही वस्त्र हैं। अर्थात नंगा रहना। नंगा होना ठीक नहीं है। कपड़ा पहने, काम भर का हलका कपड़ा पहने। जिनका दिशा ही वसन होता है, वे लोग जंगल में ही रहें, तब ठीक है। जो नंगे लोग बस्ती में घूमते रहते हैं, वे अच्छा नहीं करते हैं। **गिरि गेह,** पर्वत की गुफा ही घर है। वहां खाने-पीने की अड़चन होगी। अब जंगल में फल-फूल पहले जैसे नहीं रहे। कहीं जाकर गुफा में बैठो तब पता लगेगा। क्योंकि पेट में ज्वाला तो बढ़ेगी ही तब उतर कर तराई में मांगोगे। और ये जो गंगा के किनारे आश्रम की गुफा है, उसमें बैठोगे तो गरम भोजन पहुंच जायेगा, खा लोगे मस्त, फिर कोई प्रपंच नहीं। **सुहृत काल,** काल ही मित्र है, समय ही हमारा मित्र है। **वट कामिनी,** वट वृक्ष ही पत्नी है। केवल वटवृक्ष ही हो ऐसी बात नहीं, इसलिए वट वृक्ष की जरूरत नहीं। आश्रम के प्रांगण में कोई भी पेड़ लगा ले और उसके नीचे बैठो। **व्रत अदैन्य,** हमारा व्रत दीन न होना, कामना न करना, **सुख येह,** यही सुख है। अपना मन स्वच्छ होना चाहिए। यही सच्चा एवं परम सुख है।

छप्पय-44

देखो गंगा गिरी स्वर्ग से शिव मस्तक पर।
ताहू से गिरि जात हिमालय पर्वत ऊपर॥
पर्वत से भू माहि तहूँ से सिन्धु समानी।
पग पग अवगति होत रहत जो अस अज्ञानी॥
ताते अहं न कीजिये अहं बड़ो दुख देत खल।
दीन हीन निर्मान युत ज्ञान पंथ में रमन भल॥

देखो गंगा गिरी स्वर्ग से शिव मस्तक पर। किसी को अहंकार नहीं करना चाहिए। देखो! गंगा को अहंकार हुआ, जैसा कि रूपक है। गंगा को अहंकार हुआ कि जब मैं चलूंगी, तो पृथ्वी को फोड़ कर उसे नष्ट कर दूंगी। कहा जाता है जब वामन भगवान तीनों लोकों अर्थात भूमण्डल को नापे थे तो उनके पैर चले थे। ब्रह्मा जी ने उनके पैर धोकर चरणोदक अपने कमण्डलु में रख लिया था। वही गंगा जल है। भगीरथ तप करके चाहे कि गंगा को छोड़ दें। ब्रह्मा जी ने छोड़ने की बात सोची तो गंगा ने कहा, मुझे कौन सम्हालेगा? मैं धरती पर गिरूंगी और उसे फोड़ कर पाताल में चली जाऊंगी। तब उन्होंने शिव जी से आराधना की। शिव जी ने कहा ठीक है, गंगा आ जायें मेरी जटा में। तो ब्रह्मा जी ने अपने कमण्डलु में से चार बूंद जल गिरा दिया। गंगाजी हरहराते हुए आईं कि मैं शिव के सहित पृथ्वी को फोड़ कर पाताल में चली जाऊंगी। परंतु वे शिव जी की जटा में फंसी तो फंसी रह गयीं। निकलने का ठिकाना नहीं। क्या करें? वे निकल नहीं पा रही थीं। भगीरथ ने शिव जी से कहा, महाराज! गंगा को छोड़िये। शिव जी ने कहा, इनको बड़ा अहंकार है, रहने दीजिए इसी में।

भगीरथ के बहुत प्रार्थना करने पर शिव जी ने एक बाल झाड़ दिया। तो हा-हा-हा-हा करते हुए गंगा निकलीं और हिमालय पर्वत पर गिरीं और ऋषिकेश की तरफ जमीन पर आईं। फिर गिरते-गिरते प्रयागराज में आ गयीं, और बनारस, पटना होते हुए बंगाल की खाड़ी के समुद्र में समा गयीं। बस खो गयीं। जो अहंकार करता है, उसकी यही दशा होती है।

देखो, गंगा शिव-मस्तक पर गिरीं, वहां से हिमालय पर्वत पर गिरीं और पर्वत से जमीन पर आ गयीं, वहां से गिरते-गिरते समुद्र में समा गयीं। उसी प्रकार **पग-पग अवगति होत रहत जो अस अज्ञानी।** अज्ञानी आदमी की गंगा की तरह पग-पग पर अवगति होती है। **ताते अहं न कीजिये, अहं बड़ो दुख देत खल। अति दीन हीन निर्मान युत ज्ञान पंथ में रमन भल।** अहंकार न करो, अहंकार से केवल दुख ही मिलता है। इसलिए विनम्र होकर ज्ञान पंथ रमो।

छप्पय-45

नद रूपी यह आश मनोरथ पूरि रह्यो जल।
तृष्णा तरल तरंग राग है ग्राह महा बल॥
नाना तर्क विहंग संग धीरज तरु तोरत।
भ्रमर भयानक मोह सबन को गहि गहि बोरत॥
नित बहत रहत चित भूमि में चिंता तट अति ही विकट।
करि गये पार योगी पुरुष उन पायो सुख तेहि निकट॥[1]

आशा नाम की नदी है, उसमें इच्छाओं का जल भरा है। तृष्णा की बड़ी-बड़ी तरंगें हैं। राग का ग्राह है और द्वेष के विषैले पक्षी हैं। यह आशा नाम की नदी धैर्य रूपी वृक्ष को उखाड़ने में लगी है। इसमें मोह का भयंकर भंवर है। भंवर में पड़े हुए प्राणी-पदार्थ उसी में घूम-घूम कर डूबते रहते हैं। मोह के भंवर में पड़ा हुआ आदमी उसी में डूबता है। यह मोह-भंवर सबको पकड़-पकड़कर उसी में बोरता रहता है।

नित बहत रहत चित भूमि में चिंता तट अति ही विकट। चित्त भूमि में यह आशा नाम की नदी निरंतर बह रही है। चित्त में हरदम आशा, वासना, तृष्णा, कामना, ललक बनी रहती है। **कोई कछु देय भलो करि माने।** गोस्वामी जी ने कहा कि हमें कोई कुछ दे और भला माने, यह बात चित्त से नहीं जा रही है। यह कितनी दीनता है साधक की। साधक के चित्त में यह हो कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। सम्मान-अपमान में समबुद्धि। वैराग्य जितना बढ़ेगा सब ठीक हो जायेगा। अखण्ड वैराग्य उदय होने पर कोई कमजोरी नहीं रहती। तो आशा नाम की नदी चित्त भूमि में बहती रहती है, और उसकी तट है चिंता। जो भोगों की आशा करेगा वह चिंता में रहेगा ही।

करि गये पार योगी पुरुष, उन पायो सुख तेहि निकट। कोई योगी पुरुष ही इनसे पार हो जाते हैं। जो अपने मन को समेट लेता है, वह

---

1. आशानाम नदी मनोरथ जला तृष्णातरंगाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी,
तस्याःपारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥45॥

आशा नाम की नदी से पार हो जाता है। हमें चाहिए कि अपने मन को विषय-वासनाओं से समेटें। आशा, वासना, तृष्णा, कामना ये ही हमारे चित्त के कीड़े हैं, जो चाल-चाल कर हमें जर्जरीभूत करते हैं। निष्काम हो जाने पर ही परम सुख है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

22 सितम्बर, 1995 ई०)

चौथा प्रवचन

दोहा-46

ऐसो मैं संसार में, सुन्यों न देख्यों धीर।
विषया हथिनी संग लग्यो, मन गज बांधे वीर॥

भर्तृहरि जी कहते हैं कि संसार में मैंने ऐसे व्यक्ति को न देखा न सुना, जो विषय-हथिनी के पीछे लगे हुए मन-हाथी को पकड़ कर बांध ले। इससे यह लगता है कि उनके अनुसार इस मन को कोई नहीं बांध सकता। लेकिन ऐसी बात नहीं है। विद्वान लोग कभी-कभी काव्य की लहर में पड़ जाते हैं और अतिशयोक्तियां कर देते हैं। भर्तृहरि जी ने स्वयं अपने मन को बांध लिया था। वे पहले अत्यन्त कामी थे, लेकिन महा वैराग्यवान हो गये। ऐसे अनेक होते रहते हैं। जो चाहेगा वह अपने मन को वश में कर लेगा।

कुण्डलिया-47

छोटे दिन लागत तिन्हें जिनके बहु विधि भोग।
बीत जात विलसत हंसत करत सुरत संयोग॥
करत सुरत संयोग तनक सो लागत तिनको।
जो हैं सेवक दीन निपट दीरघ है उनको॥
हम बैठे गिरि श्रृंग अंग याही ते मोटे।
सदा एकरस द्योस लागत हैं बड़े न छोटे॥

भर्तृहरि जी कहते हैं जिनके बहुत प्रकार के भोग हैं उनको दिन बहुत छोटे लगते हैं। विहंसते-हंसते, सुरति-संयोग करते, भोगों में रमते उनके दिन बीत जाते हैं। लेकिन जो सेवक हैं, मजदूर हैं, दीन हैं, गरीब हैं,

उनको दिन बहुत लम्बे लगते हैं। उनको समय काटे नहीं कटता। इसका अनुभव कोई भी कर सकता है। जब मजदूर खेत में काम करते हैं, तो प्राय: शाम के समय वे पश्चिम देखते रहते हैं। उनको लगता है सूरज रुका हुआ है। मालिक को लगता है कि सूरज भाग रहा है। सूरज जैसा है वैसा है। यह अपनी-अपनी भावना है। जिनके पास चीजें कम हैं, परेशानियां हैं, तकलीफें हैं, उनको दिन बहुत लंबा लगता है।

हम बैठे गिरि शृंग अंग याही ते मोटे। वैराग्यवान कहते हैं कि हम तो पर्वत-शिखर पर बैठे हैं इसलिए हमारे अंग मोटे हैं। **सदा एकरस द्योस लगत हैं बड़े न छोटे।** हमारे लिए दिन एक समान लगते हैं। न छोटे हैं न बड़े हैं। कितने लोग कहते हैं हमारा दिन नहीं कटता है। दिन कटे कैसे? वे अपने जीवन में कोई गतिविधि नहीं रखते हैं। यह जीवन कर्ममय है। इसको कर्म से जोड़कर रखना चाहिए। जीवन गतिशील रखना चाहिए। आलसी नहीं। आलसी जीवन मन और तन दोनों से गंदा हो जाता है। गतिशील आदमी का मन ठीक रहता है और शरीर भी स्वस्थ रहता है।

छप्पय-48

विद्या रहित कलंक ताहि चित में नहिं धारी।
धन उपजायो नाहिं सदा संगी सुखकारी॥
मात-पिता की सेवा सुश्रूषा नेक न कीन्हीं।
मृग नैनी नव नारि अंग भर कबहुँ न लीन्हीं॥
यों ही व्यतीत कीन्हों समय ताकत डोल्यो काक ज्यों।
ले भज्यो टूक पर हाथ ते चंचल चोर चलाक ज्यों॥

मैंने निष्कलंक विद्या का अर्जन नहीं किया। अगर विद्वान हो जाता तो कहीं कुछ रोजी-रोटी का अच्छा प्रबंध होता। इससे बहुज्ञता बढ़ती। धन नहीं पैदा कर पाया कि जीवन में सुख-सुविधाएं बढ़ें। मैंने माता-पिता की सेवा भी नहीं की, जो कि गृहस्थ का कर्तव्य है। जबकि माता-पिता बच्चों को कितना कष्ट सह कर पालते-पोषते और बड़ा बनाते हैं। इसलिए बच्चों को उनकी सेवा करना चाहिए; वह भी नहीं कर पाया। दुनिया के भोगों के लिए मन तो ललचाता रहा, लेकिन वह भी नहीं मिला। मेरी दशा तो वैसी

हुई जैसे एक कौआ की होती है। जो इधर-उधर ताकता है, देखता है, और किसी बच्चे के हाथ का टुकड़ा लेकर भागता है। वह चंचल है, चोर है, चालाक है। वैसी मेरी दशा रही। जीवन भर इधर-उधर से कुछ पा गया, उसी में अपने को बहुत बड़ा मान लिया। मतलब यह है कि मैं कुछ श्रमशील नहीं हुआ, न विद्यार्जन किया, न धनार्जन किया, न सेवा की, न साधना की, और भोग को जपता रहा लेकिन भोग भी नहीं मिला। जिनको भोग मिलते भी हैं, उनको भी सदैव वैसे कहां मिलते रहते हैं! भोग तो मिलकर बिछुड़ जाते हैं। शरीर रुग्ण और कमजोर हो जाता है।

दोहा-49

जग असार दुख जानिकर, उर से करुणा पूर।
शिवपद रक्षक जानि निज, प्रेम मगन मनचूर॥
शरद चाँदनी रैन कहँ, कोई पवित्र वनलीन।
कब धौं बैठि बिताइहौं, जग-बन्धन से हीन॥

मेरा वह दिन कब आयेगा, जब मैं संसार की पूरी सारहीनता को समझ लूंगा, प्राणिमात्र के प्रति मेरे मन में करुणा होगी, आत्मस्वरूप चेतन कल्याण-पद है, उसके प्रेम में मन विलीन होगा। किसी पवित्र वन की शरद चांदनी में मोह-बंधन से मुक्त होकर जीवन व्यतीत करूंगा। नव-जवानी में सुख पाने का भ्रम रहता है। धीरे-धीरे दिन बीतते हैं, बुढ़ापा, जर्जरता आने पर सब बेकार लगने लगता है। दिन जितने बीतते जाते हैं, संसार की निस्सारता और दुखरूपता के दर्शन होते जाते हैं। अगर स्वरूपबोध हो और साधना कर विषयों की निवृत्ति हो तो व्यक्ति अपनी दशा में ठहरता है। नहीं तो जानते हुए भी व्यक्ति वैसे ही दुखी रहता है। साधक कहता है कि जगत को दुखपूर्ण समझूंगा; हृदय करुणापूर्ण रखूंगा। प्राणिमात्र के लिए हित-भावना रखूंगा। शिवपद ही अपना रक्षक है। शिवपद आत्मपद है, सत्यपद है। शिव अर्थात कल्याण। जहां विकार न हो, वह कल्याणपद है। तो मैं शुद्ध आत्मिक प्रेम में मगन रहूंगा, लीन रहूंगा, चूर रहूंगा।

शरद की चांदनी होगी। किसी पवित्र वन में बैठकर ध्यान करूंगा और

मन बंधन से हीन हो जायेगा। साधक को जहां अवसर हो, वन हो, पर्वत हो, नदी का तट हो, बाग हो, मकान हो, एकांत कमरा हो; जहां हो, जब जो स्थिति हो, उसी में उसको साधना करने का मन बनाना चाहिए। जो अमुक जगह पाकर साधना और ध्यान करना चाहता है, वह कभी सफल नहीं हो सकता है। जो अनुकूल परिस्थिति खोजता है, वह कभी साधना नहीं कर सकता है। जो सब परिस्थितियों में साधना करता है वही सफल होता है।

एक महात्मा ने एक पुस्तक ली और सोचा कि जब व्यवस्थित जगह मिलेगी, तब वहां पढ़ूंगा। महीनों घूमते रहे। कहीं व्यवस्थित जगह नहीं मिली। तब उनको ग्लानि हुई, पढ़ना शुरू कर दिया। हर जगह पढ़ते गये। कुवांरि भूमि कहीं नहीं मिलती है कि वहां तुम बैठो और कोई विघ्न-बाधा न हो। बस, करते चलो, करते चलो। हर जगह साधना की जगह है। ट्रेन में चल रहे हो, बस में चल रहे हो, भीड़ में चल रहे हो, एकांत में हो, कमरे में बैठो हो, मन में वैराग्य हो, स्वरूप भाव में ही तो ध्यान है, समाधि है। जंगल में हो और मन खुड़बुड़-खुड़बुड़ कर रहा है तो कुछ नहीं, सब बेकार है। इसलिए जो सब समय साधना कर सकता है, वही साधना कर सकता है। हां, एकांत स्थान का अपना महत्त्व है। इसलिए वैराग्यवान इसको श्रेय देते हैं।

छप्पय-50

तुम धन में संतुष्ट हमहुँ हैं वृक्ष वकल तें।
दोऊ भये समान नैन मुख अंग सकल तें॥
जाने जात दरिद्र बहुत तृष्णा है जिनके।
जिनके तृष्णा नाहिं बहुत संपत्ति है तिनके॥
तुमहीं विचार देखो दृगन को निर्धन धनवन्त को?
युत पाप कौन निष्पाप को? को असन्त अरु संत को?

भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐ धनवानो! तुम लोग धन में संतुष्ट हो और हम वृक्षों की छाल पहन कर संतुष्ट हैं। वैसे मुख, आंख, हाथ, पैर सभी अंगों को देखने से दोनों समान हैं। दरिद्र उसको समझना चाहिए जिसके मन में

बहुत तृष्णा है। जिसको तृष्णा नहीं है, उसको मानो बहुत संपत्ति है। तो संपदाशाली कौन है? मैं हूं। क्योंकि मेरे मन में कोई तृष्णा नहीं है। अब तुम्ही विचार कर देखो कौन धनवान है और कौन निर्धन है? कौन पाप में लिप्त है और कौन निष्पाप है? कौन संत है और कौन असंत है? पाप तृष्णा में है। जो तृष्णा में है वही पाप करेगा, वही गलत करेगा, वही दुखी रहेगा, और जो तृष्णा से हीन है वह संतुष्ट है।

दोहा-51

सत्संगत स्वच्छन्दता, बिना कृपणता भक्ष।
जान्यों नहिं केहि तप किए, यह फल होत प्रत्यक्ष॥

इस दोहा को साधक कंठ कर ले और इसको सदैव स्मरण में रखे तो सदा सुखी रहेगा। जीवन में तीन चीजें चाहिए–सत्संग, निर्बंधता और बिना कृपणता के भोजन। यह बड़ा सौभाग्य है कि अच्छे संतों की संगत बराबर मिलती है। गृहस्थों में जो हम घूमते हैं, वहां सावधान न रहें तो भटकाव के सिवा और कुछ नहीं है। वहां सम्मान मिलेगा, भोजन मिलेगा, कपड़े मिलेंगे, रुपये मिलेंगे और समय से पूजा-आरती मिल सकती है। लेकिन बोध नहीं मिलेगा। उधर से अबोध जरूर मिलेगा। हम वहां और भटक सकते हैं। इसलिए साधकों को बहुत सावधानी से घूमना चाहिए। संतों की संगत अमृत है। दूसरी बात है स्वच्छन्दता। मन और इन्द्रियां अपने स्ववश हों, यही स्वतंत्रता है, स्वच्छन्दता है। यह नहीं कि मनमानी घूमना स्वच्छन्दता का लक्षण है। मन की गुलामी न हो यह स्वच्छन्दता है। किसी प्रकार राग-रंग में मन फंसा न हो। मन हर समय स्वतंत्र हो। भोजन में क्या मिला? रोटी-भात के साथ नमक मिला कि दाल, घी, मेवे मिले, कोई फर्क नहीं। बिना कृपणता के पेटभर भोजन खाने को मिल जाय बस।

जान्यों नहिं केहि तप किए, यह फल होत प्रत्यक्ष। भर्तृहरि जी कहते हैं कि यह किस तपस्या का फल है। अब सोचो, उत्तम फल पाये हो कि नहीं। सत्संग मिल रहा है और खाने को पेट भर भोजन मिल रहा है। मन को स्वच्छ करके निर्बंधता मिलती है। यह महा सौभाग्य का फल है।

छप्पय-52

भोजन को कर पट्ट दशों दिशि बसन बनाये।
भखै भीख को अन्न पलंग पृथ्वी पर छाये॥
छाँड़ि सबन को संग अकेले रहत रैन दिन।
निज आतम सों लीन पौन संतोष क्षिनहि क्षिन॥
मन के विकार इन्द्रीन के डारे तोर मरोर जिन।
वे धन्य धन्य संन्यास धन कर्म किये निर्मूल तिन॥

भोजन को कर पट्ट। भोजन का पट्ट अर्थात पात्र कर (हाथ) को बनाया। हाथ में कोई बरतन नहीं है। जहां गये, हाथ में मांग लिए और खा गये। **दशों दिशि बसन बनाये।** दसों दिशाओं को कपड़ा बना लिये। ये दिशाएं ही वस्त्र हैं, नंगधड़ंग। **भखै भीख को अन्न पलंग पृथ्वी पर छाये।** भिक्षा का भोजन कर लिया और पृथ्वी बहुत बड़ी पलंग है कहीं पर सो गये। यह पलंग न टूटने वाली न फूटने वाली न इसे कसने की जरूरत है। **छाँड़ि सबन को संग अकेले रहत रैन-दिन।** सबका संग छोड़कर; संग नाम साथ, संग नाम मोह, सबका मोह छोड़कर रात-दिन अकेले रहते हैं। **निज आतम सों लीन पौन संतोष क्षिनहि क्षिन।** अपने आत्मा में लीन हैं और क्षण-क्षण संतोष का पान करते हैं, संतोष धारण करते हैं। **मन के विकार इन्द्रीन के डारे तोर मरोर जिन।** मन-इन्द्रियों के विकारों को जिन्होंने तोड़-मरोड़ डाला है। **वे धन्य धन्य संन्यास धन कर्म किये निर्मूल तिन।** उनका संन्यास धन्य है, जिन्होंने कर्मों को जड़ से उखाड़ फेंका है। कर्मसंस्कारों को दग्ध कर दिये और निष्कामतापूर्वक जीवन जीते हैं। इसका अर्थ इतना ही लेना चाहिए कि भोजन में, वस्त्र में, आवास में और मान-सम्मान में, किसी भी चीज में फंसे न। सहज जो मिले उसी में गुजर कर ले। मान-सम्मान तो गुजर की चीज ही नहीं है। भोजन, वस्त्र, आवास सहज जैसे मिलें, ले ले। अपना मन निर्बंध रखें और भजन में मस्त रहे।

दोहा-53

नृप सेवा में तुच्छ फल, बुरी काल की व्याधि।
अपनो हित चाहत कियो, तो तू तप आराधि॥

भर्तृहरि जी साधारण लोगों के लिए कहते हैं, राजा की सेवा, राजनेता

की सेवा, इसमें तुच्छ फल है। इसमें दुनियादारी की कुछ चीजें मिलती हैं। **बुरी काल की व्याधि।** काल की व्याधि बहुत बुरी है, भयंकर है। **काल की व्याधि।** काल मौत को कहते हैं, समय को कहते हैं और अज्ञान को भी कहते हैं। अज्ञान में पड़े-पड़े समय बीत जाता है। राजाओं, राजनेताओं की सेवा में अपने समय को बर्बाद न करो। यदि अपना हित चाहते हो, कल्याण चाहते हो, तो तप करो, साधना करो। इसी में कल्याण है, परम सुख है।

कुण्डलिया-54

जैसे चंचल चंचला त्यों ही चंचल भोग।
तैसे ही यह आयु है ज्यों घट पवन प्रयोग॥
ज्यों घट पवन प्रयोग तरल त्यों ही यौवन तन।
बिनशत लगत न वार गहत ह्वै जात ओस कन॥
देखो दुःसह दुक्ख देह धारिन को ऐसो।
साधत संत समाधि व्याधि सों छूटत जैसो॥

जैसे चंचल चंचला। चंचला कहते हैं बिजली की चमक को, जो आकाश में बादल में चमकती है। जैसे बिजली की चमक चंचल है, वैसे ही संसार के सब भोग चंचल हैं। राजनेताओं को देखो, मंत्रियों को देखो, उनके पास कितनी गहमागहमी है। किंतु जब वे पद से उतर गये तो उन्हें कोई पूछने वाला नहीं है। ऐसे रजवाड़े हुए, जो दुश्मनों द्वारा गिरफ्तार कर लिए गये, और उसी राजभवन के एक कमरे में बेड़ी-हथकड़ी लगाकर डाल दिये गये। जो राजभवन उनका बनवाया था या पैतृक था, जिसमें वे विलास करते थे, उसी राजभवन के किसी एकांत कमरे में बेड़ी-हथकड़ी पहनाकर डाल दिये गये। ऐसे ही संसार के सारे भोग चंचल हैं, जवानी चंचल है, यहां कुछ भी स्थिर नहीं है। **तैसे ही यह आयु है, ज्यों घट पवन प्रयोग।** घट अर्थात बादल। जैसे पवन के प्रयोग से बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही जवानी, रूप-सौन्दर्य, लावण्य, माधुर्य, अनुकूल लोगों की संगत सब क्षण-पल में विनस और बिखर जाने वाले हैं। **तरल त्यों ही यौवन तन।** जवानों की जवानी भी तरल है, बहने वाली चीज है। **बिनशत लगत न वार गहत ह्वै जात ओस कन।** वैसे इनके विनशते

देरी नहीं लगती है। जैसे ओस के कण को मोती समझकर पकड़ो और पकड़ते ही खो जाता है; ऐसे ही संसार की चीजें पकड़ो और वे खो जाती हैं। यहां आकर्षित होना केवल अपनी बेवकूफी रहती है, चाहे रूप में, चाहे रस में, चाहे गंध में सब हमारी बेवकूफी है।

एक भक्त ने एक बार कहा था कि साहेब, लड्डू-पूड़ी, हलवा, मालपूवा आदि खाने में अंत में मजा नहीं आता है; और रोटी-दाल-भात-सब्जी खाने में अंत में मजा आता है। तो सब हंसने लगे। क्योंकि लड्डू, पूड़ी, हलवा, मालपूवा आदि खाने की शुरुआत में जीभ में थोड़ा लगता है कि हां, बढ़िया चीज खा रहे हैं, किन्तु पीछे मजा नहीं आता है बल्कि पछतावा होता है। और असावधानी में ज्यादा खा लिए, तो अंत में सजा हाथ आती है। दाल-भात, रोटी-सब्जी खाये और संतुलित खाये तो अंत में बड़ी प्रसन्नता रहती है। भोगों में मजा नहीं है, किन्तु केवल भूल, भ्रम, अज्ञान और हमारी अविद्या है। तंबाकू क्या है? कितनी गंदी चीज है? लेकिन जो तंबाकू खाते हैं, वे उसमें मजा माने बैठे हैं।

देखो दुःसह दुक्ख देह धारिन को ऐसो। विवेकवानों ने देखा कि संसार के सब देहधारी भोगों में पड़कर दुसह दुख भोग रहे हैं। इसीलिए **साधत संत समाधि व्याधि सों छूटत जैसो।** संत समाधि साधते हैं, और मन की व्याधि से, दुख से मुक्त होते हैं। श्री निर्मल साहेब ने कहा है–

जिगर ही जानता होगा कि कैसी पीर होती है।
निर्मल इस मर्ज की औषध समाधी में बताया है॥

इस मानसिक रोग की औषधि समाधि है। समाधि, जहां सारी आधि का अंत है, सारे मानसिक क्लेशों का अंत है।

सोरठा-55

विप्रन के घर जाय, भीख मांगिबो है भलो।
बन्धुन को सिर नाय, भोजन हू करिबो बुरो॥

ब्राह्मणों के घर भीख मांगकर खा लेना अच्छा है, किन्तु बंधुओं के सामने सिर झुकाकर भोजन करना बुरा है।

यह नीति का वचन है।

ब्राह्मणों के घर में जाकर भीख मांगकर खा लेना अच्छा है। लेकिन बंधुओं को सिर झुकाकर उनके यहां भोजन करना अच्छा नहीं है। अपने लोगों में अपमानित होना खलता है। वैसे भाई तो भाई है उसके पास सिर झुकाकर रहना अच्छा है। आखिर कहीं जायेंगे तो वहां भी सिर झुकाना पड़ेगा। तो भाई के सामने सिर झुकाना क्या बुरा है। इस भिन्न पक्ष पर भी सोचना चाहिए।

दोहा-56

विप्र शूद्र योगी तपी, सुपच कहत कर ठोक।
सबकी बातें सुनत हौं, मोको हर्ष न शोक॥

लोग ताली बजाकर मजाक करते हैं कि यह ब्राह्मण है, कोई कहता है नहीं, यह शूद्र है; कोई कहता है योगी है, कोई कहता है नहीं, यह तपस्वी है, कोई कहता है यार, यह भंगी है। मैं सबकी बातें सुनता हूं। मुझे न हर्ष है न शोक है। गोस्वामी जी भी कहते हैं–

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगारि न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै पुनि सोऊ।
माँगि कै खैइबो मसीद कै सोइबो लैबो कै एक न दैबौ को दोऊ॥

(कवितावली)

मुझे चाहे धूर्त कहो, चाहे अवधूत कहो, चाहे राजपूत कहो, चाहे जुलाहा कहो। हमारे कोई लड़का थोड़े है कि उसके लिए किसी की लड़की मांगना है। गोस्वामी जी भी बड़े चतुर थे। वे यह नहीं कहते कि मुझे किसी के लड़का से अपनी बेटी नहीं ब्याहना है। वे कहते हैं, क्या मेरे कोई लड़का है जो मैं लड़की खोजूंगा। लड़की है तो किसी को भी दे दे। लेकिन लड़का के लिए बहू मिलना मुश्किल है। किसी की जाति में मिलकर उसकी जाति नहीं बिगाड़ना है। मांग कर खा लेना है और किसी मस्जिद में सो जाना है। मस्जिद यानी किसी उपासनागृह में सो जाना है। न एक लेना है, न दो देना है। एक दोष किसी से नहीं लेना है, और दो मन

और वीर्य कहीं नहीं देना है। अर्थात अपना मन कहीं नहीं आसक्त करना है और अपना वीर्य कहीं नहीं देना है। गोस्वामी जी कहते हैं, तुलसीदास तो गुलाम हैं श्रीराम के चरणों का। जिसके मन में जो आये सो कहे।

दोहा-57

ते नर जग में धन्य हैं, शरद शुभ्र निशि माहिं।
तोड़े बन्धन जगत के, मनते विषयन काहिं॥

वे मनुष्य संसार में धन्य हैं, जो शरद की चांदनी में ध्यान करते हैं, चिंतन करते हैं और मन के विषय-बंधनों को तोड़ते हैं। शरद की चांदनी तो बहुत थोड़े समय के लिए है। अगर कोई सालभर मन के विषय-बंधनों को नहीं तोड़ता है तो केवल शरद चांदनी में तोड़ने से क्या फायदा? यह सब लाक्षणिक है; मतलब है कि हर समय अपने मन के बंधनों को तोड़े।

सोरठा-58

विषय सर्प को मारि, चित लगाय शुभ कर्म में।
पुण्य कर्म शुभ धारि, त्यागे सब मन वासना॥

वे पुरुष उत्तम हैं, जो विषय-सर्प को मार देते हैं और अपने चित्त को शुभ कर्म में लगाते हैं। अपने जीवन में पुण्य कर्म करते हैं और विषय-वासना को मन से पूर्णतः त्याग देते हैं।

छप्पय-59

अरे चित्त कर कृपा त्याग तू अपनी चालहिं।
सिर पर नाचत खड्यो जान तू ऐसो कालहिं॥
ये इन्द्रिय गण निठुर मान मत इनको कहिबो।
शांत भाव कर ग्रहण सीख कठिनाई सहिबो॥
निज मति तरंग सम चपल तजि नाशमान जग जानिये।
जनि करहु तासु इच्छा कछू शिव स्वरूप उर आनिये॥

अरे चित्त! तू कृपा कर, तू अपनी चंचल चाल छोड़ दे और शांत हो

जा। देख, तेरे सिर पर काल खड़ा नाच रहा है। कब तेरे को वह उठा ले जाये, इसका कुछ पता नहीं है। ये इन्द्रियां बड़ी निष्ठुर हैं। इनका कहा मत मान। इन्द्रियों के पीछे मत चल। शांत भाव ग्रहण कर, सहनशील बन। कठिनाई को सहना सीख! कायर मत बन। अपनी बुद्धि जो पानी की तरंग की तरह चंचल है, चपल है, उसको छोड़ और जगत को नाशवान समझ। जो कुछ तेरे को मिला है, वह स्थिर नहीं है। इसलिए उसमें आसक्त मत हो।

जनि करहु तासु इच्छा कछू, शिव स्वरूप उर आनिये। संसार के विषयों की कुछ भी इच्छा मत करो। हृदय में शिव स्वरूप का ध्यान करो। शिवस्वरूप का मतलब आत्मस्वरूप, स्वत्व, स्वस्वरूप शुद्ध आत्म तत्त्व में स्थित हो। दो प्रकार के साधक होते हैं। एक साधक वे हैं जो अपना आराध्यदेव अलग मानकर कल्पना में उससे अपना सान्निध्य करते हैं। वे समझते हैं कि परमात्मा मुझसे अलग है। मैं उससे बिछुड़ गया हूं। दूसरे साधक वे हैं जो मन की वासनाओं को छोड़कर अपने आप में शांत होते हैं। वे समझते हैं कि आत्मा की शुद्ध अवस्था ही परमात्मा है और वह स्वयं आत्मा है। पहला साधक मन से कल्पना करता है ईश्वर की और उससे अपने को जोड़ता है। यह शुभ है, लेकिन कल्पना का राज्य है। किन्तु दूसरा साधक वास्तविकता में है। वह कल्पना ही को खत्म कर देता है। जब कल्पना ही नहीं रह गयी तो कल्पित वस्तु कहां? वह स्वयं शिवस्वरूप है। स्वरूप ही शिव है, आत्मा ही शिव है। वासनाओं का त्याग करो और अपने स्वरूप में स्थित होओ। स्वस्वरूप ही परमात्मा है।

दोहा-60

वकल वसन फल असन करि, करिहौं वन विश्राम।
जित अविवेकी नरन को, सुनियत नाहीं नाम॥

वृक्षों की छाल का कपड़ा बना लूंगा, फल का भोजन करूंगा और वन में विश्राम करूंगा, जहां अविवेकी मनुष्यों के नाम भी सुनाई नहीं देते।

इन अविवेकी आदमियों के बीच में रहकर खीझ होती है कि वन में चला जाऊंगा। वहां अकेले पड़ा रहूंगा, कोई झंझट नहीं रहेगी। अब प्रश्न

होता है कि भोजन, वस्त्र और आवास के लिए क्या करूं? तब वे कहते हैं भूख लगेगी तब फल तोड़कर खा लूंगा और ठंडी-गरमी लगेगी तब वृक्षों की छाल पहन लूंगा तथा जंगल के वृक्षों के नीचे रह लूंगा। यह अच्छा रहेगा। भर्तृहरि जी जब रहे होंगे तब लगता है जंगलों में ऐसी सुविधा रही होगी। आज घूम आओ जंगलों में तो फलों का मिलना बड़ा मुश्किल है। इसलिए गांव से भोजन-वस्त्र लो और विवेक से रहो।

तथागत बुद्ध ने ढाई हजार वर्ष पूर्व मध्यम मार्ग कहा। महावीर स्वामी अति त्याग किये। महात्मा बुद्ध ने भी आरम्भ में अति त्याग किया और अति त्याग में निर्बल हुए। लेकिन वासनाओं की निवृत्ति नहीं हुई, तब उन्होंने उसको छोड़ दिया। कहा जाता है एक वीणावादक वीणा बजा रहा था। उसका एक तार बहुत ढीला था, एक तार बहुत कसा हुआ था और एक तार मध्य था। तो जो कसा हुआ था उससे बड़ी कर्कश आवाज आ रही थी। जो बहुत ढीला था उससे बहुत मंद आवाज आ रही थी और जो मध्यम था उससे मधुर आवाज आ रही थी। उन्होंने सोचा कि बहुत कड़ा त्याग दुखद है, विलासी होना तो महादुखद है, मध्य का रास्ता ही ठीक है। सद्गुरु कबीर का भी विचार मध्य का है। पारखी संतों की रहनी मध्य की है और यही ठीक है। मध्य का रास्ता ही ठीक है।

छप्पय-61

मोह छाँड़ मन मीत प्रीत सो चन्द्र चूड़ भज।
सुर सरिता के तीर धीर धर दृढ़ आसन सज॥
शम दम भोग विराग त्याग तप को तू अनुसरि।
वृथा विषय बकवाद स्वाद सबको तू परिहरि॥
थिर नहिं तरंग बुदबुद तड़ित अगिन शिखा पन्नग सरित।
त्यों तन यौवन धन अथिर चल दल-दल कैसे चरित॥

ऐ चित्त! तू प्रेम से चंद्रचूड़ का भजन कर। जो चूड़ पर चन्द्र धारण करे। चूड़ = चोटी, सिर पर जो चन्द्रमा को धारण किये हुए हैं, उन शिव का तू भजन कर। वस्तुतः शिव आत्मा है, आत्मलीन हो। **सुर सरिता के तीर धीर धर दृढ़ आसन सज**। गंगा नदी के किनारे धीरज धारण कर

आसन लगा। **शम दम भोग विराग त्याग तप को तू अनुसरि।** मन और इन्द्रियों को वश में करना शम और दम है। भोगों से विराग कर। कामादि भोग, राग-रंग इन सब का दूर से त्याग कर। अशन, वसन, निवसन सबमें उदास, सरल जीवन हो। तप करो; कष्ट सहन करना ही तप है। पंचाग्नि तापना तप नहीं है। काया कष्ट करना तप नहीं है। सब अवस्था में सम रहना तप है। अनुकूल-प्रतिकूल अवस्था में सम रहना तप है। **वृथा विषय बकवाद स्वाद सबको तू परिहरि।** विषयों का पूर्ण त्याग कर और व्यर्थ की बकवाद करना छोड़ दे।

थिर नहिं तरंग बुदबुद तड़ित अगिन शिखा पन्नग सरित। शरीर, जवानी और भोग, पानी की तरंग, पानी के बुदबुदे, बिजली की चमक, आग की शिखा, सांप का फन, सरिता की धारा और पीपल के पत्ते के समान चंचल हैं। यह सारा, संसार अत्यन्त चंचल है, क्षणिक है। यहां कहीं भी आसक्त मत होओ।

दोहा-62

विषय देह क्षण भंग लखि, त्यागि ताहिं अभिमान।
निर्विकल्प निज रूप महँ, तू समाधि को ठान॥

विषय और देह क्षणभंग हैं। इसलिए इनका अभिमान छोड़ और निजस्वरूप में स्थित होकर, निर्विकल्प हो जा। निजरूप की स्थिति निर्विकल्प अवस्था में होती है। संकल्पों का पूर्ण त्याग निर्विकल्प अवस्था है। संकल्पों को त्यागते रहना द्रष्टा अवस्था है। संकल्पों को त्यागते रहना भी बहुत बड़ी बात है। संकल्पों को देखता रहे और छोड़ता रहे, तो संकल्पों का सारा भार उतर जाता है। दीर्घकाल तक ऐसा अभ्यास करते-करते सारे संकल्प शांत हो जाते हैं, तब निर्विकल्प मन हो जाता है। फिर आत्मस्वरूप भाव में स्थित होना सीधा सहज हो जाता है। इसके पहले की जितनी साधनाएं हैं, वह क, ख, ग की तरह हैं। ज्योति देखकर मन ठहराना, सांस देखकर मन ठहराना, शरीर में लहर इत्यादि देखकर मन ठहराना, ये सब प्रथम साधना में क, ख, ग की तरह हैं। अंतिम साधना है द्रष्टा रहना। देखते रहो मन को, उसमें बहो न। संकल्पमात्र को देखो और

त्यागो। उसमें मिलकर बहो न। फिर सारे संकल्प शांत हो गये, मन निर्विकल्प हो गया। यही पूर्ण समाधि है।

दोहा-63

तजि तरुणी सो नेह, बुद्धि वधू सो नेह कर।
नरक निवारत येह, वहै नरक लै जात है॥

भर्तृहरि जी कहते हैं, कामवासना का त्याग करो, और बुद्धि-वधू से प्रेम करो। स्त्री से प्रेम न करो, सद्बुद्धि से प्रेम करो। क्योंकि एक तो नरक में ले जाती है और दूसरी स्वर्ग में ले जाती है। साधिका स्त्री है, वह पुरुष में मोह करेगी, तो पुरुष का मोह उसे नरक में ले जायेगा। यदि अपनी सद्बुद्धि में, विवेक में मोह करेगी, सत्संग का आधार लेगी तो कल्याण होगा। क्योंकि स्त्री-पुरुष दोनों तो चेतन हैं, और दोनों को कल्याण चाहिए। इसलिए कामवासना जीवमात्र को नरक में ले जाती है और विवेकवती बुद्धि कल्याण करती है।

छप्पय-64

हिंसा चोरी रहित सत्य मुख शब्द उचारन।
समय शक्ति अनुसार दान दाया उर धारन॥
पर नारी की बात माहिं चुप मुख से रहिबो।
गुरुजन संत समक्ष नम्र ह्वै सद्‌गुण गहिबो॥
भिन्न-भिन्न सदग्रंथ मह करि समान विश्वास चित।
ये सब नित सुख प्राप्ति को सुगम पंथ सब जीव हित॥

भर्तृहरि जी कहते हैं, हिंसा न करे, चोरी न करे, सदैव सत्य बोले, मुख से कभी कटुवचन न कहे। समय और शक्ति के अनुसार दान करे। सब जीवों पर दया करे, और हमेशा हृदय में दया का भाव बनाये रहे। परनारी की चर्चा स्वयं न करे, यदि चर्चा होती हो तो चुप रहे या वहां से उठ कर चला जाय। गुरुजनों, संतों और बड़ों के समक्ष नम्र रहे। नम्र तो हर जगह रहे, लेकिन वहां और नम्रता का भाव प्रकट करे। सबसे सद्‌गुण ग्रहण करे और दुर्गुण किसी का न ले। भिन्न-भिन्न सद्‌ग्रन्थों में समान विश्वास करे,

किन्तु पारखी यह बात पसंद नहीं करेगा। भिन्न-भिन्न सद्ग्रंथों से सार ले, यह माना जायेगा, उसमें समान विश्वास कैसे किया जाय?

एक बार मोहम्मद नगर में जब मैं इसका प्रवचन कर रहा था, तो शंकर भगत तुरंत पूछ पड़े—साहेब! सब सद्ग्रंथों में समान विश्वास कैसे करें? तब मैंने कहा, आप ठीक कहते हैं। आम-घास सब लिखा है, सब कैसे मान लें? भिन्न-भिन्न सद्ग्रंथों से सार-सार ले लें। उपर्युक्त बातें नित्य सुख प्राप्त करने के लिए सुगम रास्ता है, सद्गुणग्राह्य दृष्टि है। एक बार सरसरी निगाह से देखें, यह कितना बढ़िया कथन है—हिंसा न करे, चोरी न करे, सत्य और मीठे वचन बोले, समय-शक्ति के अनुसार दान करे, सब जीवों पर दयावान हो, परस्त्री की चर्चा में चुप रहे, गुरु-संत और अपने से बड़ों के साथ नम्रता का बरताव करे, सबसे सद्गुण ग्रहण करे और सभी सद्ग्रंथों से सार ले, यह सब सुख का रास्ता है।

दोहा-65

मोको तजि भजि और को, ऐसी लक्ष्मी मात।
हौं पलास के पात में, मांग्यो सतुआ खात॥

ऐ लक्ष्मी मां! मेरे को छोड़कर तू और को भज। मैं तो सत्तू मांगकर पलास के पत्ते में खा लेता हूं। मुझे अब कोई चिंता नहीं है। यह निश्चिंतता का कितना बढ़िया सूत्र है। सतुआ ही नहीं, दाल-भात, रोटी-सब्जी खाओ, लेकिन निश्चिंत रहो, इच्छा न रखो। दाल-भात खाओ तो यह न हो कि महीन चावल होता तो अच्छा होता, यह मोटा चावल है। इस प्रकार अपने मन में इच्छा न हो। मोटा चावल मिले खा लो, महीन चावल मिले तो खा लो, भात के साथ सब्जी मिले खा लो, दाल मिले खा लो। अगर उसमें घी पड़ा हो और अरुचि न हो तो खा लो, घी न हो तो खा लो। इस प्रकार जब जो मिले खा लो, बस मस्त। यह नहीं कि सत्तू खाये तब साधक हैं। कितने साधक बात पकड़ लेते हैं और बस, सत्तू शुरू कर देते हैं। गये भक्त के यहां तो उनके पास सत्तू कहां है? तुम उनसे सत्तू मांग रहे हो, उन्हें रोटी देना तो सरल है, सत्तू देना सरल नहीं है। तब सत्तू कहां अच्छा हुआ। सत्तू लाक्षणिक है। निष्फिक्र रहो और जो मिले गुजर कर लो। और मस्त भजन करो।

दोहा-66

तुम-हम हम-तुम एक हैं, सब विधि रह्यो अभेद।
अब तुम-तुम हम-हमहि हैं, भयो कठिन यह भेद॥

भर्तृहरि जी का कोई पुराना मित्र था। उसने उनसे कहा कि भई, तुम तो अब मिलते नहीं हो। उन्होंने कहा, देखो **तुम हम हम-तुम एक हैं, सब विधि रह्यो अभेद।** तुम और हम, हम और तुम सब विधि एक थे। लेकिन अब तुम, तुम हो और हम, हम हैं। **यूयं यूयं वयं वयम्**–तुम-तुम, मैं मैं हूं। **भयो कठिन यह भेद।** तुम्हारा रास्ता संसार का है, मोह का है, और मेरा रास्ता निर्मोहता का है।

छप्पय-67

ऐ बाले! निज अर्ध नेत्र क्यों बाण चलावत।
रोक काम की दृष्टि व्यर्थ क्यों श्रम उठावत॥
पहिले ऐसे रहे नहीं हम निरस भये अब।
गये मोह अरु छोह सकल सुख भोग आश दब॥
निश्चय कीन्हें हृदय में कहुँ निर्जन बन में रहन।
विषय भोग तृण तुच्छ लखि अमर परम पद को गहन॥

ऐ बाले, ऐ युवती! अपने अर्ध नेत्र का बाण क्या चला रही है। उसको रोक। अब मेरे मन में काम की दृष्टि नहीं रही। तू मुझे रिझाने के लिए परिश्रम मत कर। पहले जैसा मैं अब नहीं रहा। अब मैं निरस हो गया हूं। अब मैंने संसार का कच्चा-चिट्ठा समझ लिया है। अब मेरा मोह-क्षोह मिट गया है। सारे सुख-भोग की आशा मिट गयी है। अब तो मैंने निश्चय कर लिया है किसी निर्जन वन में रहने के लिए। अब तृणवत तुच्छ विषय-भोगों को त्याग कर मैं अमृतस्वरूप आत्मा में निमग्न हूं।

दोहा-68

केहि कारण डारत वयन, कमल नयन यह नार।
मोह काम मेरे नहीं, तऊ न तिय चित हार॥

भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐ स्त्री! मेरे ऊपर अपना नेत्र-बाण क्यों चला रही है। मेरे मन में तो अब काम नहीं रहा, फिर भी तेरा मन मेरे प्रति

भटकता है। यह सब कहने का एक तरीका है। दूसरा कोई कुछ नहीं कर सकता है। अपना पाजीपन है, जो अपना मन विषय-वासना में जाता है। अपना पाजीपन छोड़ दें बस। अपनी आंखों को नम्र रखो और स्त्री की तरफ मत ताको। यदि देखो तो, मां-बहन की तरह समझ कर। अपने मन को विषयों से उदास, विचार-विवेक से संपन्न रखो।

छप्पय-69

महल महा रमणीक कहा बसिबे नहिं लायक।
नाहिन सुनबे योग कहा जो गावत गायक॥
नव तरुणी को संग कहा सुख हू नहिं लागत।
तो काहे को छाँड़ छाँड़ ये वन को भागत॥
इन जान लियो इह जगत को जैसे दीपक पवन में।
बुझि जात छिनक में छबि भर्‍यो होत अंधेरी भवन में॥

क्या इन साधु-संन्यासियों को रहने के लिए सुन्दर भवन न थे? क्या इनको सुनने के लिए अच्छे-अच्छे संगीत न थे? क्या इनको नवतरुणियां नहीं मिल सकती थीं। फिर क्या कारण है कि ये छोड़-छोड़ कर उठती जवानी में वन को भाग रहे हैं, साधु-संन्यासियों के आश्रम में जा रहे हैं। उत्तर यह है कि इन लोगों ने जान लिया, जैसे एक भव्य भवन हो और दीपक जल रहा हो, और हवा का झोंका आये, तो क्षणमात्र में ही वह दीपक बुझ जाता है। फिर सुन्दर भवन में अंधेरा हो जाता है। इसी प्रकार सारे सुख-भोग क्षण ही में खो जाते हैं। इन भोगों से जर्जरीभूत अपना चित्त जीवनभर अपने को दुख देता है। इनकी वासनाएं जन्म-जन्मांतर भव-व्याधि में भटकाती रहती हैं। भोगों का जो फल है, और भोगों का जो अंत है, उसको इन संन्यासी युवकों ने जान लिया है। भोगों का फल है बंधन, दुख और अंत है विनाश। इसलिए इन्होंने इन सब का परित्याग करके संन्यास ग्रहण किया और निरन्तर साधना में डूबे हैं।

कोई व्यक्ति कहीं सुन्दर भवन में जाय, जो स्फटिक शिलाओं से बना हो, चारों तरफ चमकता हो और संसार के सारे वैभव उसमें विद्यमान हों। उसको देखकर मन आनंदित हो जायेगा, क्या पूछना? लेकिन यदि वह

उसमें रहने लगे तो कुछ दिनों के बाद उसका मन बेचैन हो जायेगा। अंततः उसमें शांति न मिलेगी। एक करोड़पति ने मुझसे एक बार कहा था, महाराज! रुपये मुझे काटते हैं। उनको इतने रुपये थे, इतना धन था कि उसी से उनका मन चंचल था, चिंतित था कि इसका क्या होगा, कैसे होगा? तो संसार के भोगों का अंत होगा विनाश में, और उसका फल है दुख! यह समझकर इन नवयुवक संन्यासियों ने विरक्ति ले ली।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद

23 सितंबर, 1995 ई०)

पांचवां प्रवचन

छप्पय-70

कहा कन्दरा हीन भये पर्वत भूतल से।
झरना निर्जल भये कहा जे पूरित जल से॥
कहा रहे सब वृक्ष फूल फल बिन मुरझाये।
सहे खलन के बैन अन्धता जो मद छाये॥
कर संचित धन जे स्वल्प हूँ इत उत फेरे भ्रू विकट।
रे मन! तू भूल न जाहु कहुँ इन खल पुरुषन के निकट॥

भर्तृहरि जी कहते हैं कि क्या पृथ्वी पर जो पर्वत हैं, उनमें कंदरायें नहीं रह गयीं। क्या जो झरनें हैं वे जल से रहित हो गये हैं? क्या जो वन के वृक्ष हैं उनमें अब फूल-फल नहीं लगते? अगर पर्वत में गुफाएं हैं, रहने की जगह है, झरनों में पीने के लिए पानी है और खाने के लिए वृक्षों में फल-फूल हैं, तो फिर क्यों धन-मद में उन्मत्त लोगों के सामने जाते हो? इन खलों के कटुक वचन क्यों सहते हो? ये थोड़ा-सा धन इकट्ठा कर लिए उसके मद में दूसरों को टेढ़ी नजर से देखते हैं। वे समझते हैं कि हम ही सब कुछ हैं। हे मन! भूलकर भी इन खल मनुष्यों के निकट मत जाना। इनसे निस्पृह रहना।

भर्तृहरि जी का जब समय था, उस समय वन में फल-फूल रहे होंगे। झरनों में जल अब भी है, और पर्वत में गुफाएं भी हैं। लेकिन फल पहले जैसे नहीं हैं। पहले वनों की अधिकता थी, इतनी अधिकता थी कि पूरा भूमण्डल जंगलों से ढका था। अभी सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व भारत की जनसंख्या आज की अपेक्षा करीब एक तिहाई भी नहीं थी, तब भारत में बहुत जंगल था। मैंने स्वयं बचपन में देखा है कि गोण्डा जिले में जितना जंगल था आज उसका कहीं पता नहीं लगता है। और आज से हजारों वर्ष पूर्व पूछना ही क्या, खूब जंगल था। तो गुफाएं हैं और झरनों में पानी भी

है, लेकिन जंगलों में फल दुर्लभ है। कहीं कुछ थोड़ा–मोड़ा हो सकता है। इसीलिए एक संत जब जंगल में घूम रहे थे और बस्तियों में भी, तो उन्होंने आज से कोई तीस–चालीस वर्ष पूर्व पत्र में लिखा था, और वह एक पत्रिका में छपा भी था कि अगर कोई संत जंगल में रहना चाहें तो वे इस साधन से यहां आयें। वे कुम्हड़ा–लौकी और फलों के बीज लेते आवें और यहां पर जमीन गोड़कर बो दें, और चारों तरफ से लकड़ी की बाड़ लगा लें, जिससे वह सुरक्षित रहे। बड़ा–बड़ा प्रपंच लिखा था कि तभी यहां गुजर हो सकता है, नहीं तो नहीं हो सकता। वह सारा प्रपंच वही है, जो सामान्य देहात में या मैदानी भाग में करना पड़ता है। अतएव सारे कथन सारे देश–काल के लिए अनुकूल नहीं होते हैं। यह कथन लाक्षणिक समझना चाहिए। जो धनमद में मतवाले हैं, उनके पीछे मत भटको, अपने जीवन गुजर के लिए स्वावलंबी बनो।

दोहा–71

गंगातट गिरिवर गुफा, उहाँ कहा नहिं ठौर।
क्यों ऐते अपमान सो, खात पराये कौर॥

गंगा का तट और पर्वतों की गुफाओं में क्या जगह नहीं है? क्यों अपमान से पराये का कौर खा रहे हो? जो तुम्हें दुत्कार रहे हैं, जो तुम्हारा अपमान कर रहे हैं, उनसे अपनी रक्षा की कामना क्यों करते हो?

दोहा–72

मेरु गिरत सूखत जलधि, धरनि प्रलय ह्वै जात।
गज सुत के श्रुति चपल ज्यों, कहां देह की बात॥

बड़े–बड़े पर्वत नष्ट हो जाते और समुद्र सूख जाते हैं, और धरती का प्रलय हो जाता है। फिर हाथी के बच्चे के कान के समान चंचल इस देह की क्या बात है? हाथी के बच्चे के कान बहुत चंचल होते हैं। हाथी भी अपने कान को हिलाता रहता है। लेकिन हाथी के बच्चे के कान और बहुत चंचल होते हैं। हरदम वह हिलाता रहता है।

मेरु गिरत, पर्वत गिर जाते हैं। धीरे–धीरे पर्वत घिसते–घिसते शून्य हो जाते हैं। और **सूखत जलधि,** समुद्र सूख कर वहां पर्वत हो जाता है।

धरनि प्रलय ह्वै जात, पृथ्वी का प्रलय हो जाता है। पृथ्वी तो रहती है, उस पर परिवर्तन होना ही प्रलय है।

अभी बिहार के पश्चिमी हिस्सा से लेकर उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब ये पहले का समुद्र क्षेत्र माना जाता है। इस प्रकार संसार में परिवर्तन बना रहता है, यही उसका प्रलय है। फिर शरीर की क्या बात है, जो मौत का झोंका आया और खत्म। ऐसे गंदे शरीर में बैठकर आदमी क्या-क्या सोचता है? राग-द्वेष, ईर्ष्या, कलह-कल्पना और नाना मनोविकारों में डूबता है। जो यह स्वच्छंद जीवन है, जिससे कल्याण का काम करना चाहिए, उसे दूसरे की बुराइयों को सोचने और कहने में बिताता है। अपनी बुराइयों का हमें पता नहीं, जो अथाह है। हमें चाहिए कि अपना दोष सुधारें। दूसरे के दोष को कहने और सुनने की गुंजाइश कहां है? जवान मरते हैं, परिपक्व मरते हैं, बूढ़े मरते हैं, और जर्जर ही नहीं मरते हैं, शिशु भी मरते हैं, गर्भस्थ शिशु भी मर कर पैदा होते हैं। इसलिए साधक को होश-हवास में रहना चाहिए, और अपने कल्याण में रात-दिन तत्पर रहना चाहिए।

दोहा-73

एकाकी इच्छा रहित, पाणि पात्र दिग वस्त्र।
शिव शिव हौं कब होउंगो, कर्म शत्रु को शस्त्र॥

मेरा वह दिन कब होगा, जब मैं अकेला होऊंगा, इच्छारहित होऊंगा और हाथ ही मेरा भोजन का पात्र होगा, तथा दिशाएं ही वस्त्र होंगी। शिव-शिव जप करते हुए मैं कर्मशत्रु का विध्वंस करूंगा। खास बात है कि साधुओं की संगत में रहते हुए, भक्ति-सेवा-साधना करते हुए, विनम्र होकर अपने दोषों को निकालते हुए, अपने आत्मा का कल्याण करेंगे। दूसरे के दोषों को कभी नहीं देखेंगे। अपने दोषों को देखेंगे और निकालेंगे, और अपने बंधन को काटेंगे ऐसी मेरी बुद्धि कब होगी, यह सोचना है।

दोहा-74

इन्द्र भये धनपति भये, भये शत्रु के साल।
कल्प जिये तौऊ गये, अन्त काल के गाल॥

कोई इन्द्र हो जाय, धनपति–कुबेर हो जाय, और **भये शत्रु के साल,** शत्रु को पीड़ा देने वाला हो जाय, अनेक दुश्मनों पर विजय प्राप्त कर एकछत्र राज्य स्थापित कर ले, और एक कल्प तक जीये। एक कल्प अर्थात चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक इस पृथ्वी पर बना रहे। तो भी क्या होगा **तौऊ गये, अंत काल के गाल,** काल के गाल में जाना है। कल्प भर रहने के बाद, जब जाने का समय होगा, तब भी लगेगा कि अभी आये और जा रहे हैं। इसलिए यहां रहने का कोई अहंकार नहीं करना चाहिए। यहां पर जितने क्षण हैं, उतने क्षण आत्मद्रष्टा बनकर रहना चाहिए, अपने को देखने की चिंता होनी चाहिए, अपने दोषों को देखने और निकालने की चिंता होनी चाहिए। वैसे सौ वर्ष के नीचे–ऊंचे ही सब मरते हैं।

दोहा–75

मन विरक्त हरि भक्ति युत, संगी वन तृण डाभ।
याहू से कछु और है, परम अर्थ को लाभ?॥

मन विषयों से विरक्त हो और हरि अर्थात गुरु की भक्ति में लगा हो, तथा वन के डाभ, तृण साथी हों, क्या इससे भी बढ़कर कुछ परमार्थ का लाभ होगा? सत्संगत और वैराग्य हो, फिर क्या पूछना। वैराग्य में भी कुछ ऐसी बातें हैं, जो हमारे मन में पिनक उत्पन्न कर देती हैं। लेकिन व्यवहार में आने पर पता चलता है कि क्या करना चाहिए, कैसे होना चाहिए। कितने साधक उड़ान की बातें सोचते हैं कि मैं ऐसा चाहता हूं, ऐसे भजन करूं, अकेले रहूं और बस, भजन करता रहूं। अरे! तुम अकेले रहोगे तो भोजन की जरूरत पड़ेगी, कपड़े की जरूरत पड़ेगी, रहने के लिए छाया की जरूरत पड़ेगी। और भी अनेक जरूरतें हैं, तो तुम अकेले कैसे रहोगे? तुम्हें भिक्षाटन करना पड़ेगा। वहां तुम्हें ऊंच–नीच सहना पड़ेगा। तकलीफ होगी शरीर में तो उसको सहना पड़ेगा। रोग–व्याधि हो जायेगी, तो उसको सहना पड़ेगा। उस समय आश्रय की आवश्यकता होगी।

ऐसे नंगे साधु को मैं देखा हूं, जिसको उसके भक्त डॉक्टर के पास ले गये थे। वहां से जब लौटे तब मेरे पास आये। वे साधु नवजवान थे, और नंगे थे। कुछ भी नहीं पहने थे। हिन्दू संत थे, लेकिन नंगे थे। उनको

जलोदर रोग हो गया था, तब वे गृहस्थों में आये। फिर एक भक्त चिकित्सा कराने लगा। इसलिए पिनक छोड़ देना चाहिए। मध्यवर्ती रहना है। साधु-संगत में रहना है, क्योंकि असाधुसंगति से दुख है। इसलिए सदैव साधु संगत में रहना और भक्ति-भावना, वैराग्य-भावना, विनम्रता, निजदोष दर्शन तथा अपने कल्याण में तत्परता यही कल्याण का पथ है।

दोहा-76

ब्रह्म अखण्डानन्द पद, सुमिरत क्यों न निशंक।
जाके छिन संसर्ग से, लगत लोकपति रंक॥

ऐ मन! ब्रह्म अखण्डानंद पद का निशंक होकर स्मरण क्यों नहीं करता। जिसके क्षणिक स्मरण मात्र से जो सुख होता है उसके सामने इन्द्र और ब्रह्मा का सुख भी तुच्छ है।

ब्रह्म शब्द बड़ा प्राचीन है। ब्रह्म का मतलब बड़ा होता है। 'बृहत्त्वात् ब्रह्म' इसका दो ढंग से अर्थ होता है। पहला अर्थ जो बढ़ता रहे वह ब्रह्म, और दूसरा अर्थ बृहत, बड़ा होने से ब्रह्म। मूल रूप में आग को ऋषियों ने ब्रह्म माना था। आग थोड़ी जलाओ तो वह बढ़ती जाती है। उसके पश्चात आत्मा को ब्रह्म कहा गया, फिर अच्छा को ब्रह्म कहा गया। 'ब्रह्म बिहार' महात्मा बुद्ध ने कहा। 'ब्रह्म बिहार' मतलब श्रेष्ठ विहार। 'जलं ब्रह्म', 'अन्नं ब्रह्म' श्रुतियों में कहा गया। जल और अन्न की महत्ता है इसलिए उसको ब्रह्म कहा गया। किसी भी अच्छी चीज को ब्रह्म कहने का पहले रस्म था। सर्वोपरि ब्रह्म आत्मा ही है। मनुष्य का अस्तित्व बोध ही ब्रह्म है। तुम अपने आप ब्रह्म हो। सारी कामनाओं, कुविचारों और कुवासनाओं को छोड़कर अखण्ड ब्रह्मानंद पद का स्मरण करो यानी निजस्वरूप का स्मरण करो, वही उत्तम है। उसके क्षणिक संपर्क से लोकपद भी रंक के समान लगता है। सारी कुचालों, कुसंस्कारों को छोड़कर जो अपने स्वरूप में स्थित होता है, दुनिया के भोगैश्वर्य उसके लिए किस खेत की मूली हैं! क्या उसके मन में उसके लिए आकर्षण रहेगा? बिलकुल नहीं! इसलिए अपने ब्रह्म अखण्डानंद पद में, निजस्वरूप में स्थित हों।

कुण्डलिया-77

फांद्यो ते आकाश को पठ्यो ते पाताल।
दशों दिशा में तू फिर्‍यो ऐसी चंचल चाल॥
ऐसी चंचल चाल इतै कबहूँ नहिं आयो।
बुद्धि सदन को पाय छिनहु ना अंग छुवायो॥
देख्यो नहिं निजरूप कूप अमृत का छायो।
ऐ रे मन मति मूढ़! क्यों ना भव वारिध फांद्यो॥

फांद्यो ते आकाश को पठ्यो ते पाताल। ऐ चंचल चित्त! तू आकाश में उड़ा और पाताल में गया। दसों दिशाओं में तू मुझको भटकाता रहा, लेकिन स्थिति की तरफ तू नहीं आया। निज दोष निवृत्ति की तरफ तू नहीं आया; अपने जीवन को मांजने और धोने की तरफ तू नहीं आया। तू क्यों भोगों की कामना करता रहा? क्या कल्याण के लिए ध्यान दिया? क्या तूने आत्मचिंतन किया? पराये दोषों को तू जितना देखता रहा, क्या उसका एक हिस्सा अपने दोषों को देखा? अपना स्वरूप अमृत का कूप है। निजस्वरूपज्ञान, निजस्वरूप स्थिति अमृत का सागर है। लेकिन उसका दर्शन तू नहीं किया। उस अमृत जल का पान नहीं किया। ऐ मूढ़ मन! तू संसार-सागर को क्यों नहीं तरता है? तू संसार- सागर में भटकना छोड़ और निजस्वरूप के अमृत कूप का जल-पान कर, संसार-सागर को तैर जा!

कुण्डलिया-78

वे ही निशि वे ही दिवस वे ही तिथि वे वार।
वे उद्यम वे ही क्रिया वे ही विषय विकार॥
वे ही विषय विकार सुनत देखत अरु सूंघत।
वे ही भोजन भोग जागि सोवत अरु ऊंघत॥
महा निलज ये जीव भोग में भयो विदेही।
अजहूँ पलटत नाहिं कढ़त गुण वे के वे ही॥

वही रात है, वही दिन है, वही तिथि है, वही उद्यम है, वही क्रिया और वही विषय विकार है। वही रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श को आदमी रोज देखता, सुनता, सूंघता, चखता और स्पर्श करता है। वही भोजन और भूख

है। वैसे ही खाना, पीना, ऊंघना और सो जाना है। यह जीव इन्हीं भोगों में पड़कर सुध-बुध खो दिया है, और महा निर्लज्ज हो गया है। आज भी वह अपने को बदल नहीं रहा है। जैसे, दस, बीस, चालीस वर्ष के पूर्व था, वैसे अब भी है। यह कितना दुर्भाग्य है?

साधक वह है, जिसका जीवन शुभ की तरफ बढ़ता जाये। यही उसकी उन्नति है। अगर दोष बढ़ते गये तो विनाश है। सावधान न रहे तो जीवन्मुक्त भी भटक सकता है। एक बार मैंने सद्‌गुरु विशाल साहेब से पूछा था कि क्या साहेब! जीवन्मुक्त भी भटक सकता है। उन्होंने कहा था—जीवन्मुक्त क्यों भटकेगा। उस दशा के समान तो कोई स्थिति ही नहीं है, तब क्यों भटकेगा? लेकिन अगर वह जिस रहनी से उस दशा में है, उस रहनी को ढील करने लगे, तो भटक जायेगा। इसलिए कहा है—

जब लग है यह देह, प्रारब्ध भुलावन पूर्व की।
तब लग शत्रु मनेह, विनय करौं यहि स्वार्थ हित॥

(विशालवचनामृत)

यहां अनुकूलता है, प्रतिकूलता है, प्रशंसक हैं, निंदक हैं, भलाई-बुराई करने वाले हैं। कहीं किसी प्रशंसा में फूल गया, और कहीं किसी के बुराई करने से पचक गया, राग-द्वेष करने लगा, तो भटक गया। इसलिए जब तक प्रारब्ध शरीर है, तब तक सावधान रहने की जरूरत है।

अजहूँ पलटत नाहिं कढ़त गुण वे के वे ही। आज भी तू पलट नहीं रहा है, बदल नहीं रहा है। वही अवगुण तेरे में रह-रहकर उभरते हैं, वही गंदी आदतें उभरती हैं। वही दिन है, वही रात है, वही तिथि, वही उद्यम-क्रिया और विषय-विकार हैं। वही सारी चीजें हैं। वही देखता, सुनता, सूघंता, चखता और स्पर्श करता है। क्या नयी चीज है? वही-वही होने पर भी तू उसी में भटकता है। इसलिए बाहर का आकर्षण छोड़ और अपने को समझ, अपने को निखार, अपने को शुद्ध कर, अपने में शांति ले।

छप्पय-79

पृथ्वी परम पुनीत पलंग ताको मन मान्यो।

तकिया अपनो हाथ गगन को तम्बू तान्यो॥
सोहत चन्द्र चिराग बीजना करत दशों दिस।
बनिता अपनी वृत्ति संग ही रहत दिवस निशि॥
अतुल अपार सम्पत्ति सहित सोहत हैं सुख में मगन।
मुनि राज महा नृप राज ज्यों पौढ़े देखे हम दृगन॥

जिन्होंने पृथ्वी को पलंग मान लिया, अपने हाथ को तकिया बना लिया, आकाश को तंबू मान लिया, चन्द्रमा का चिराग बना लिया, दसों दिशाओं को पंखा झलने वाले नौकर बना लिया, स्वरूपस्थिति की वृत्ति को अपनी पत्नी बना ली, जो रात-दिन साथ में रहती है। इस प्रकार अतुल और अपार संपत्ति के सहित सुख में मगन ऐसे मुनिराज महासम्राटों को मैंने अपनी आंखों से देखा है।

इन सारे अलंकारों में निश्ंचितता और वैराग्य का ध्वनन है। निश्ंचित, निष्फिक्र रहे, भोगों की कामना वाला न हो, वह धरती पर धन्य है।

सोरठा-80

कहा विषय को भोग, परम भोग इक और है।
जाके होत संयोग, नीरस लागत इन्द्र पद॥

ये विषयों के भोग किस खेत की मूली हैं। परम भोग, आत्मस्थिति का भोग एक और है। उसके मिलने पर इन्द्र का भोग भी नीरस लगता है। ये विषयों के भोग तो इन्द्रिय और मन को चंचल करते हैं, उत्तेजित करते हैं, जिससे आदमी का पतन होता है।

छप्पय-81

श्रुति अरु स्मृति पुरान पढ़े विस्तार सहित जिन।
साधे सब शुभ कर्म स्वर्ग को थान लह्यो तिन॥
कहत तहाँ हूँ चाल काल को ख्याल भयंकर।
ब्रह्मा और सुरेश सबन को जन्म मरण डर॥
ये बनिक वृत्ति देखी सकल अनन्त नहीं कछु काम की।
अद्वैत ब्रह्म को ज्ञान यह एक ठौर आराम की॥

वेद, श्रुति, स्मृति, पुरान, धर्मशास्त्र आदि पढ़ा और शुभ कर्म, दान-

पुण्य आदि किया। इनके फल में स्वर्ग मिल गया तो **क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति।** पुण्य के क्षीण होते ही स्वर्ग की अवधि समाप्त हो जाती है और वहां से व्यक्ति मृत्युलोक में लौट आता है। इस प्रकार स्वर्ग की अवधि क्षीण होने पर ब्रह्मा और इन्द्र को भी मरने का डर है। मर कर फिर उनको जन्मना है। जन्म-मरण का डर उन्हें भी लगा हुआ है। इसलिए वैराग्यवान कहते हैं, यह कर्मकाण्ड वणिकवृत्ति है। बनिया खरीदता और बेचता है वैसे कर्मकाण्ड हैं कि पुण्य करो और स्वर्ग पाओ। यह अनंत नहीं है, इसलिए कुछ काम का नहीं है। केवल एक ही आराम की जगह है, वह अद्वैत ब्रह्म की स्थिति है।

अद्वैत मतलब अकेला, ब्रह्म मतलब श्रेष्ठ, तो यह जो अपना आत्मअस्तित्व है, आत्मस्वरूप है, यही ब्रह्म है। वासनाओं को छोड़ देने पर तो जीव अकेला है ही। अपनी असंगता का बोध होना, यही आराम की जगह है। लेकिन समझ लो तो यह असंगता का बोध सत्संग में संभव है। प्रवृत्ति में निवृत्ति है और निवृत्ति में प्रवृत्ति है। नये साधक को ध्यान की अपेक्षा अध्ययन ज्यादा करना चाहिए। अध्ययन से चिंतन बढ़ेगा, वैराग्य बढ़ेगा। जो कोई प्रवृत्ति नहीं लेता है, सोचने के लिए उसको कई चीजें मिलती हैं। जंगल में जाकर बैठो, तो सोचने की बहुत चीजें मिलेंगी। एक गिलहरी दौड़ रही है, एक बंदर कूदा, इसी को वह घंटों सोचता रहेगा। तो मन के बिना स्ववश हुए सोचने की चीजें मिलती रहती हैं। प्रवृत्ति लेकर सेवा करते हुए, अगर गुणग्राह्य दृष्टि है तो अपने को मांजते-मांजते आदमी मन को स्ववश कर लेता है। आदमी अकेले बैठ जायेगा, कैसे उसका बेड़ा पार होगा? एक दिन बैठकर कोई देख ले! अकेला बैठा रहे तो वह कितने समय सही दशा में रहेगा, और कितने समय उसकी वासनाएं उसे भटकायेंगी। दिन भर जो-जो विचार आये उसे एक कागज पर लिखता रहे तो उस कागज को वह किसी को दिखा नहीं पायेगा। एक घंटे का लिखा हुआ कागज किसी को दिखा नहीं पायेगा, तो दिन-भर का क्या दिखा पायेगा? इसलिए भक्ति की बड़ी जरूरत है, सत्संग की बड़ी जरूरत है, संत-गुरु का आधार लेकर रहने की जरूरत है। इस प्रवृत्ति में निवृत्ति है।

छप्पय-82

जल की तरल तरंग जात ज्यों जात आयु यह।

यौवन हूँ दिन चार चटक की चोंप चाह चह॥
ज्यों दामिन परकाश भोग सब जानहु तैसे।
तैसे ही यह देह अथिर स्थिर ह्वै कैसे?
सुनिए मेरे चित्त तू! होहु ब्रह्म में लीन गति।
संसार अपार समुद्र तर करि नौका निज ज्ञान रति॥

जैसे जल की तरंग तरल और चंचल है, वैसे आयु भी भागी जा रही है। समुद्र के किनारे जाकर देखो, हा-हा-हा-हा होता रहता है। हमारी आयु भी इसी प्रकार भागी जा रही है। जवानी के सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य बहुत थोड़े दिनों में समाप्त हो जाते हैं। जैसे बिजली का प्रकाश सावन की रात को क्षणमात्र के लिए आलोकित कर देता है, लेकिन तुरंत बुझ जाता है और घोर अंधकार हो जाता है। संसार के सारे भोग ऐसे हैं, सारे संयोग ऐसे हैं। यह देह चंचल है। आजकल में लुप्त हो जायेगी। यह स्थिर कैसे हो सकती है? इसलिए हे मेरे मन! तू आत्मा में लीन हो। यह निजस्वरूप ही श्रेष्ठ है, ब्रह्म है, सत्यपद है। वासनाओं को छोड़ और अपने स्वरूप में स्थित हो। मन के संसार-सागर से पार हो। आत्मज्ञान की नाव पर बैठकर संसार-सागर से पार हो जा। यही सार है, संसार की सारी चीजें क्षणभंगुर हैं, असार हैं।

दोहा-83

ज्यों सफरी को फिरत लख, सागर करत न क्षोभ।
अण्डा ले ब्रह्माण्ड का, त्यों संतन को लोभ॥

सफरी छोटी मछली होती है। उसके उछलने-कूदने से समुद्र में क्षोभ नहीं होता, इसी प्रकार पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक की संपत्ति हो, उसके लिए संत के मन में लोभ नहीं होता।

दोहा-84

काम अन्ध जबही भयौ, तिय देख्यौ सब ठौर।
अब विवेक अंजन कियौ, लख्यौ अलख सिर मौर॥

जब कामान्ध हुआ, तो मैंने सर्वत्र स्त्री-स्त्री देखी। लेकिन जब विवेक

का आंजन लगाया, तब जो सत्य का द्रष्टा है उस अदृश्य निजस्वरूप को समझा जो सर्वोच्च है। उसमें स्थित होकर समर्थ हो गया।

छप्पय-85

चन्द्र चाँदनी रम्य रम्य वन भूमि पुहुप युत।
त्यों ही अति रमणीक मित्र मिलबो है अद्भुत॥
बनिता के मृदु बोल महा रमणीक विराजत।
मानिन मुख रमणीक दृगन आँसुन झर छाजत॥
ये कहे परम रमणीक सब सब कोऊ मन में चहत।
पर इन विनाश जब देखिए तब इनमें कछु ना रहत॥

वन की भूमि है, रात का समय है, स्वच्छ चांदनी है। रमणीक प्यारे मित्र मिले हुए हैं, यह कितना अद्भुत, कितना आनंदमय लगता है। सुन्दरी युवती पत्नी के मीठे वचन मन को हर लेते हैं। युवती पत्नी क्रुद्ध होकर जब अभिमान से आंसू गिराने लगती है, तो यह दृश्य मन को मोह लेता है। ये सब प्यारे लगते हैं। विषयी मन यह सब चाहता है। लेकिन जब इनके विनाश को देखते हैं, तब लगता है कि इनमें कुछ नहीं है। युवती पत्नी कुछ दिनों में बूढ़ी हो गयी, अब उसको देखने का भी मन नहीं करता है। जो एक दिन स्वर्ग लगती थी, अब वह नरक लगती है। सब कुछ थोड़े दिनों में कितना विकृत हो जाता है। वन भी कट जाते हैं। जो वन रात में सौम्य लगते हैं, मोहक लगते हैं, वही दोपहर में खराब लगते हैं। प्रात: का दृश्य कितना सुहावना होता है और दोपहर धूल और बवंडरों से भरा हुआ कितना अनसुहाता लगता है। शाम की छटा मनोहर लगती है। लेकिन रात में जब अंधियारी हो जाती है, तब वही भय देती है। यहां सब कुछ क्षण-क्षण बदलता है। किसी चीज में मोह करने लायक नहीं है। जिसने कहीं कोई मोह किया उसने अपने आप का वध किया। वह प्रेम कैसा जो एक से हट कर दूसरे में जुड़ जाये। अगर कोई स्वरूपस्थिति में प्रेम करता है, तो उसका किसी प्राणी-पदार्थ में मोह कैसे हो सकता है!

सोरठा-86

उञ्छ वृत्ति गत मान, समदृष्टि इच्छा रहित।

करत तपस्वी ध्यान, कन्था को आसन किये॥

तपस्वी सहज प्राप्त भोजन कर लिया, अभिमान से रहित है, अनुकूल-प्रतिकूल में समता की दृष्टि है, संसार की सारी इच्छाओं से रहित है, गुदड़ी बिछाकर आसन जमा दिया और ध्यान में लीन है।

उञ्छवृत्ति है अन्न के दाने बीनकर और उसे पकाकर खाना, और शिलवृत्ति है खेत से फसल उठ जाने के बाद पड़ी हुई अन्न की बालियों को चुनकर उससे गुजर करना। वानप्रस्थियों तथा तपस्वियों के लिए ये नियम थे।

खास बात है, सहज प्राप्त स्वच्छ, सुपाच्य भोजन संतुलित ढंग से ग्रहण करना और अहंकार तथा इच्छाओं से रहित होकर समता से जीवन व्यतीत करना और आत्मलीनता का अभ्यास करना।

छप्पय-87

अरी मेदनी मात तात मारुत सुन ऐ रे।
तेज-सखा जल-भ्रात व्योम-बन्धू सुन मेरे॥
तुमको करत प्रणाम हाथ तुम आगे जोरत।
तुम्हरे ही सत्संग सुकृत को सिंधु झकोरत॥
अज्ञानजनित यह मोह हू मिट्यो तिहारे संग सों।
आनन्द अखण्डानन्द को छाय रह्यो रस संग सों॥

ऐ पृथ्वी माता, ऐ हवा पिता, ऐ आग मित्र, ऐ जल सखा और ऐ आकाश बंधु, तुम्हारे सामने हम हाथ जोड़ते हैं। तुम्हें प्रणाम करते हैं। तुम्हारे द्वारा संगठित इस शरीर में हमने बोध-वैराग्य का काम करके संसार-सागर से तरने की साधना की। इस शरीर से हम उपकृत हैं। क्योंकि शरीर मिट्टी, पानी, आग, हवा से बना है। इसलिए ऐ जड़तत्त्वो! तुम मानो मेरे माता, पिता, मित्र, सखा, भाई, बंधु हो। तुमने शरीर संगठित करके साधना की एक अच्छी भूमिका उपस्थित की। हमने सारी वासनाओं का त्याग करके अपना कल्याण कर लिया। तुम्हारे संग से अज्ञानजनित मोह को मिटा दिया। अब तो हरदम अखण्ड आनंद का रस छाया है। अब हम तुमसे सदा के लिए बिदा लेते हैं। तुम्हारा उपकार मानते हैं। यह उच्च

भावना जिसके मन में हो, उसे कहां मलिनता आ सकती है? जिस साधक के मन में मलिनता आती है, वह अपनी दशा में नहीं रहता है। उसके लिए वह काम नहीं करता है। साधक जहां रहे अपना काम करे। भंडारी भंडार में है तो चेष्टा से काम करे, दौड़-दौड़ कर करे। **बिन शौक फकीरी मिट्टी है।** बिना शौक के कोई काम नहीं होता है। और शौक से कोई काम करो तो अच्छा होता है। झाड़ू लगाओ तो शौक से लगाओ, बरतन मांजो तो शौक से मांजो, जो सेवा हो शौक से करो। नाली साफ करना हो तो शौक से करो। किसी की टट्टी फेंकना है तो शौक से फेंको। तत्पर होकर करो। यदि तत्पर होकर करोगे तो उसके फल में चित्त शुद्ध होगा। मोक्ष निर्मलता, निर्बंधता है। मन से सारा कषाय धुल जाना, सारे विकारों का धुल जाना उच्च स्थिति है।

साधू को है काम यह, बझै न तन के कोट।
रैन दिवस संग्राम करि, मेटि वासना खोट॥

(विशालवचनामृत)

इस शरीर के किला में फंसे न, रात-दिन संग्राम करके खोटी वासनाओं को मिटा दे। हमारे आगे-पीछे वालों में कोई दोष है, तो स्नेह से, हमदर्दी से सम्हालने के लिए कह दें तो अच्छा है। किसी की निंदा-बुराई न करके उसी से कह दें। जहां वश न चले वहां चुप रहें, अपना काम करें। अपना काम कर रहे हैं मानो सबके लिए कर रहे हैं। जो समझ पायेंगे, वे देखकर चलेंगे। जो नहीं सुधारेगा, उसका काम नहीं होगा। हम आये हैं यहां अपना काम करने के लिए, अपने को सुधारने के लिए। तो जो अपने आप को सुधारेगा, उसका चित्त निर्मल हो जायेगा। वही संसार से विदा मांग सकेगा। इतना साहस उसका स्वभाव बन जायेगा, उसकी स्थिति बन जायेगा और वह कहेगा कि ऐ संसार, ऐ देह के जड़ तत्त्व! सदा के लिए तुमसे निवृत्त हो रहा हूं, तुम्हारा बहुत-बहुत उपकार है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
24 सितंबर, 1995 ई०)

छठां प्रवचन

छप्पय-88

जौ लौं देह निरोग और जौ लौं न जरा तन।
अरु जौं लौं बलवान आयु अरु इन्द्रिन के गन॥
तौ लौं निज कल्याण करन को यत्न विचारत।
वह पंडित वह धीर वीर जो प्रथम सम्हारत॥
फिर होत कहा जर-जर भये जप तप संयम नहिं बनत।
भव काम उठ्यो निज भवन जब तब क्यों कर कूपहिं खनत॥

जब तक शरीर निरोग है, बुढ़ापा दूर है, इन्द्रियां सबल हैं, तब तक कल्याण करने के लिए यत्न कर लो। वही पंडित है, वही धीर है, वही वीर है, जो पहले जीवन को सम्हाल ले। जब जर्जर हो जायेगा, तब क्या बनेगा? तब जप, तप, संयम कुछ नहीं कर पायेगा। जब घर में आग लगी तब कोई कुआं खोदे, तो क्या फायदा होगा?

अभी शरीर स्वस्थ है, इंद्रियां स्वस्थ हैं, बुढ़ापा दूर है, परंतु मन राग-द्वेष में घूम रहा है, और कामवासना, क्रोधवासना, लोभ-वासना, ईर्ष्या, परनिंदा और चिंता-विकलता के कीड़े मन में किलबिला रहे हैं। तब फिर कब कल्याण करोगे? क्षण-क्षण सुनहला समय जा रहा है। लेकिन आदमी इतना बदहवास है कि उस पर ध्यान नहीं देता। जान भी जाते हैं, सत्संग भी प्राप्त कर लेते हैं, तब भी ध्यान नहीं देते हैं। **ई मन बनिया बानि न छोड़े।** यह बनिया मन अपनी गंदी आदत नहीं छोड़ता। फिर वही गंदी आदत, वही ईर्ष्या-द्वेष, वही राग, वही पर निंदा, वही क्रोध-काम, वही मत्सरता, वही देहाभिमान को चिपकाये रखता है। जो हम लोगों के क्षण-क्षण बीत रहे हैं, निर्मल चित्त रहकर बिताने लायक है। सुबह से शाम तक हमारे मन में कोई विकार न आये, यह हमारी सफलता है। अगर हम विकारों में सड़ते हैं, तो हमारे पास चाहे जो कुछ हो जाय, हम सुखी नहीं होंगे। आज-कल में यह शरीर मर जायेगा। यह घमण्ड बेकार है कि **सब**

मर जायं पै हम न मरिबै। मरना सबको है। लेकिन क्या काम करना चाहिए और क्या कर रहे हैं? चित्त निर्मल करना चाहिए तो चित्त को गंदा कर रहे हैं। जिसके लिए गंदा करते हैं, क्या वह साथी होगा। इसलिए जब तक स्वस्थ शरीर है, अपने को सम्हालो। फिर आगे सम्हलने का कोई चांस नहीं रह जायेगा। आज ही जागो!

दोहा-89

विद्या पढ़ी न रिपु दले, रह्यो न नारि समीप।
यौवन यह यों ही गयो, ज्यों सूने गृह दीप॥

भर्तृहरि जी राजा थे, नीति निपुण थे, और वे पूर्व में घोर सांसारिक थे। फिर वैराग्यवान हुए। उन्होंने पहले नीतिशतक और श्रृंगार शतक लिखा। जब विरक्त हुए तब वैराग्य शतक लिखा। इसमें बीच-बीच में ऐसी बात कह दिये हैं जो साधारण है। वे कहते हैं न विद्या पढ़ी, न दुश्मनों को मारा और न स्त्री के साथ रहा। जवानी व्यर्थ चली गयी; जैसे सूने घर में दीपक। घर ही सूना-साना है तो दीपक जल कर क्या करे। जब दीपक के प्रकाश में कोई काम करने वाला हो तब दीपक का मूल्य है।

विद्या पढ़ना, दुश्मनों को मारना, स्त्री संगत करना, ये सब सांसारिक बातें हैं। कल्याण के लिए तो न ज्यादा विद्या पढ़ने की जरूरत है, और न दुश्मनों को मारने की। दुश्मन तो अपने विकारों के अलावा कोई है ही नहीं। और कल्याणार्थी को नारी के समीप रहने का कोई प्रसंग ही नहीं है। यह तो संसारी गति है। मनुष्य अपने को रोक नहीं पाता है, इसलिए नर नारी की संगत करता है और नारी नर की संगत करती है। यह कल्याण की बात नहीं है। कल्याण की बात तो यह है कि यथार्थ सद्गुरु की शरण लेकर अपने स्वरूप को समझे, बंधनों को समझे, उसे काटे और कल्याण करे।

दोहा-90

ज्ञान घटावै मान मद, ज्ञानहिं देत बढ़ाय।
रहसि मुक्ति पावै यती, कामी रति पल्टाय॥ 90 ॥[1]

---

1. ज्ञानं सतां मानमदादिनाशनं, केषांचिदेतन्मदमानकारणम्।
स्थानं विविक्तं यतिनां विमुक्तये कामातुराणामतिकामकारणम् ॥90॥

ज्ञान घटावै मान मद। ज्ञान का जब अच्छा उपयोग होता है, तब हमारे अंदर के मान और मद दूर होते हैं। अगर हम अपात्र हैं तो हमारा ज्ञान, मान-मद को बढ़ा देता है। सुपात्र में जब वही ज्ञान आता है तब उसका मान घटता है, मद घटता है, विकार घटता है, किंतु अपात्र में ज्ञान आता है, तो वह घमण्डी हो जाता है।

रहसि मुक्ति पावै यती। रहसि, रहस नाम एकांत, यति अर्थात त्यागी जब एकांत में जाता है तो मुक्ति पाता है। वह विचारों को छोड़कर आत्मलीन हो जाता है। और **कामी रति पलटाय।** कामी एकांत में जाता है तो उलट कर वह कामवासना में रत हो जाता है। पात्रता के भिन्नत्व से एक ही वस्तु का उपभोग भिन्न-भिन्न है।

छप्पय-91

मन के मनही माहि मनोरथ वृद्ध भये सब।
निज अंगन में नाश भयो वह यौवन हू अब॥
विद्या ह्वै गई बाँझ बूझवारे नहिं दीखत।
दौर्‌यो आवत काल कोप करि दसनन पीसत॥
कबहुँ न पूजे प्रीति सों चक्रपाणि प्रभु के चरण।
भवबंधन काटे कौन अब अजहूँ गहु रे हरिशरण॥

हमारे मन की सारी इच्छाएं बूढ़ी हो गयीं लेकिन पूरी नहीं हुईं। शरीर अपने अंगों में ही बूढ़ा होता गया। इस शरीर के अंदर ही जवानी गल के खत्म हो गयी। हमारी विद्या बंध्या हो गयी। कोई उसे समझने वाला नहीं मिलता है। जो कुछ मैं जानता हूं, उसे कोई आकर आदरपूर्वक सुनने को तैयार नहीं है। और काल हमारी तरफ रात-दिन दांत पीसते हुए दौड़ा आ रहा है। ऐ मूर्ख मन! आज भी तूने चक्रपाणि प्रभु के चरणों की पूजा-आराधना नहीं की। कहो कौन तेरा बंधन काटेगा? इसलिए आज ही तू हरि की शरण ग्रहण कर।

यहां भर्तृहरि जी ने विष्णु भगवान की याद की है। वस्तुतः सद्‌गुरु ही चक्रपाणि हरि है, और वह हमें कल्याण का रास्ता दिखा सकता है। अन्य हरि तो केवल काल्पनिक आदर्श मात्र है। जो वर्तमान में बोध-वैराग्य

संपन्न पुरुष हैं, उन्हीं की छत्रछाया में रहने से, उन्हीं के विचार सुनने से हमारा कीचड़ भरा मन निर्मल हो सकता है। लेकिन तब होगा जब विनम्रतापूर्वक यह भाव आये। अगर साधक अपने मन में गदंगी लेकर बैठा है तो विवेकवान के पास रहकर भी कुछ फल नहीं होगा। संसार की इच्छाएं किसी की पूरी नहीं होतीं, यह पक्का है। जवानी का कितना घमण्ड करो, थोड़े दिनों में वह रह नहीं जायेगी। इसलिए सब तरफ से सिमटकर अपने आत्मा का कल्याण करो!

छप्पय-92

प्यास लगे जब पान करत शीतल सुमिष्ट जल।
भूख लगे तब खात भात घृत दूध और फल॥
बढ़त काम की आग तबहिं नव वधू संग रति।
ऐसे करत विलास होत विपरीत दैव गति॥
सब जीव जगत के दीन भरत खात पियत भोगहु करत।
ये महा रोग तीनों प्रबल बिना मिटाये नहिं मिटत॥

आदमी को जब प्यास लगती है, तब वह शीतल मीठा जल पीता है। भूख लगने पर जो मिलता है आहार ग्रहण करता है। जब काम की आग बढ़ती है, तब वह स्त्री की संगत करता है, या स्त्री है तो पुरुष की संगत करती है। इस प्रकार विलास करते-करते दैव की गति विपरीत हो जाती है। दैव यानी कर्म। जो कुछ कर्म हमने बनाया है, वही दैव है। और उसकी गति विपरीत हो जाती है। हम बंधनों में जकड़कर संसार में रोते हैं। संसार के सारे जीवों की यही दशा है। वे खाते हैं, पीते हैं और भोग-विलास करते हैं। ये तीनों महारोग हैं, जो बिना मिटाये नहीं मिटते।

खाना-पीना तो शरीर के लिए जरूरी है। खाने-पीने में कोई लालसा न हो, किन्तु शुद्ध सात्विक, सुपाच्य देखकर थोड़ा खा ले। काम-भोग तो बिलकुल दुखदायी है। कल्याणार्थियों को चाहिए कि उसका सर्वथा त्याग करें। गृहस्थों को भी संतान के बाद ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए। संतान हो गयी फिर अपने को उस कीचड़ में डालने से क्या फायदा, जिसका फल ही उद्वेग है, क्षीणता और मलिनता है, पछतावा है, और मन-इन्द्रियों को

निचोड़ना है। यह बेवकूफी नहीं तो क्या है? कोई दस मन दूध मथकर मक्खन निकाले और ले जाकर नाली में डाल दे, तो लोग उसको कितना पागल कहेंगे। वही काम लोग कर रहे हैं। खा-पीकर जो शरीर में शक्ति इकट्ठी हो उसको नष्ट कर देना, कितनी बड़ी भूल है। इसलिए काम-वासना, काम-क्रिया, काम-भोग का पूर्ण त्याग होना चाहिए।

दोहा-93

नर सेवा तजि ब्रह्म भजि, गुरु चरणन चित लाय।
कब गंगा तट ध्यान धर, पूजोंगो शिव पाय॥

संसारियों की सेवा छोड़कर गुरु और शिव के चरणों में लगकर कब गंगा के तट पर बैठकर आत्मलीन होऊंगा?

पैसा कमाना है तो सेवा करना ही है। जिसके यहां रहे, वहां विनम्रता से सेवा करना चाहिए। अहंकार नहीं होना चाहिए कि हम उच्च वर्ण के हैं और जिसके यहां हैं वह निम्न वर्ण का है। सब मनुष्य हैं, जाति-वर्ण से क्या फर्क पड़ता है। उच्च वर्ण के बनो तो अपने घर बैठे रहो! एक ब्राह्मण कहे जाने वाले का लड़का घर से भागा और कहीं दूर चला गया। उसके मित्र ने एक सेठ की दुकान में उसकी नौकरी लगवा दी। सेठ सुबह आया, दुकान खोला और उससे कहा—पंडित जी, झाड़ू लो और दुकान को बुहार दो। उसको बहुत बुरा लगा। सेठ ने उसे पंडित जी इसलिए कहा क्योंकि रस्म है। जिसका नाम ब्राह्मण है, उसे लोग पंडित कह देते हैं। तो वह नौकरी छोड़कर घर भाग आया। जब तुम नौकरी करने गये हो तो झाड़ू लगा दो, कचड़ा फेंक दो, मालिक जो कहे सो करो। तो जहां रहे वहां सेवा करना चाहिए। किन्तु यहां का भाव कुछ दूसरा है। जिसको वैराग्य है वह क्यों किसी सेठ-साहूकार की सेवा करे। वह तो किसी राजा, महाराजा, सेठ-साहूकार की सेवा छोड़कर, गुरु के चरणों में चित्त लगाकर उनकी सेवा करेगा, गंगा के किनारे ध्यान धारण करेगा, और आत्मस्थित होगा। आत्मा ही शिव है और आत्मस्थिति ही शिव की पूजा है।

छप्पय-94

बसैं गुहा गिरि शुचित शिला सैय्या मनमानी।
वृक्ष वकल के वसन स्वच्छ सुरसरि का पानी॥
बन मृग जिनके मित्र वृक्ष फल भोजन जिनके।
विद्या जिनकी नारि नहीं सुरपति सम तिनके॥
ते लगत ईश सम मनुज मोहि तनु शुचि ऐसे जग भये।
जे पर सेवा के काज को हाथ नाहिं जोरत नये॥

जिन्होंने पवित्र पर्वत की गुफाओं की शिला को अपनी शैय्या बना ली है, वृक्षों की छाल को कपड़ा बना लिया और जो पवित्र गंगा नदी का जल पीता है, वन के पशु जिनके मित्र हैं और वृक्षों के फल भोजन हैं, आत्मविद्या जिनकी पत्नी है और जो निरंतर आत्मज्ञान में रमता है, इंद्र उसके सामने कुछ नहीं है। **ते लगत ईश सम मनुज मोहि तनु शुचि ऐसे जग भये।** वे मनुष्य हमें ईश्वर के समान लगते हैं। जिन्होंने अपने तन-मन को पवित्र कर लिया है और पराये की सेवा में हाथ जोड़कर नहीं जाते हैं। यहां भी वही बात है, रजवाड़ों की सेवा से घृणा की गयी है। भर्तृहरि जी स्वयं पहले राजा थे। वे रजवाड़ों की दुर्दशा जानते थे, इसलिए उनको उनसे बड़ी घृणा हुई। इन कामी-कुचालियों की सेवा में सुबह से उठ कर जाना कितना गर्हित है। किन्तु जो तुम्हारे विकारों को धोते हैं, ऐसे सद्‌गुरु की शरण में क्यों नहीं जाते हो!

छप्पय-95

सोहत जो शिव शीश जटा सुरसरि की धारा।
बट तरु बल्कल फूल जासु सद्वृत्ति अपारा॥
त्याग सुखद अस गंग कौन ऐसो नर वो है।
परिजन करुणा हीन नारि को आनन जोहै॥
दीर्घ श्वास सो विपति ज्वर जीरण भारी गहतु हैं।
सब विधि दुख की खान अति निर्दय जेहि तिय कहतु हैं॥

शिवजी के सिर की जटा में शोभायमान गंगा आज धरती पर बहती है। उसके तट पर बरगद आदि के वृक्ष लगे होते हैं। एकांत स्वच्छ प्राकृतिक निवास, वृक्षों की छाल के वस्त्र, फूल, फल, कंद आदि का भोजन पुष्कल

निर्वाह की वस्तुएं हैं। ऐसे सुखदायी गंगातट के निवास को छोड़कर कौन समझदार होगा जो स्त्री-पुत्रादि के कठोर तथा करुणाहीन मुंह को देखना चाहेगा। कलह भरे विपत्ति ज्वर के दीर्घ श्वास से पीड़ित सब प्रकार से दुख उत्पन्न करने वाली स्त्री है।

वैराग्यवृत्ति वाले पुरुष को स्त्री दुख की खानि लगती है, तो वैराग्यप्रिय नारी को पुरुष दुख की खानि लगेगा ही। वस्तुतः दुख की खानि तो दैहिक काम-पिपासा तथा संतान की तृष्णा है। आत्मबोध से यह पिपासा तथा तृष्णा मिट जाने पर सारे दुखों का अंत है। वैराग्यवान और लेखक अधिकतम पुरुष हुए हैं इसलिए वे स्त्रियों पर कटाक्ष किये हैं। क्योंकि उनका मन स्त्रियों में बंधता था। स्वयं भर्तृहरि जी अपनी पत्नी पिंगला के दुश्चरित्र से आहत थे। पिंगला पर वे पूर्ण स्नेह रखते थे, और पिंगला घोड़ा-दरोगा से फंसी थी। जब यह परदा खुला, तब उनको वैराग्य हुआ। वे सच्चे वैराग्यवान हुए। ऐसी सब स्त्रियां नहीं होतीं। सब पुरुष भी भ्रष्ट नहीं होते, जो अपनी पत्नी को धोखा देकर परनारी में रत होते हैं। कुल मिलाकर स्त्री-पुरुष कोई हो, उनके मन का विकार ही उनके बंधन हैं। अपनी देह ही बंधन का कारण है। देह में वासना उठने पर ही ये सब होते हैं; इसलिए अपनी देह से सावधान रहे। स्त्री या पुरुष जो कल्याणार्थी हैं, उन्हें तो एक-दूसरे से सदैव सावधान और दूर रहने की जरूरत है। जो गृहस्थ हैं वे भी अपने-पराये सब से सावधान रहें। अपनी आग हो या दूसरे की आग हो, वह छप्पर में जब पड़ेगी तो जलायेगी। इसलिए विरोधी आलम्बन से पूर्ण विरक्त रहें और आत्मचिंतन में रत रहें।

जहां तक गंगातट निवास, जल-फल असन और वल्कल वसन की बात है; इस पिनक से मन वश में नहीं होता है, अपितु वैराग्यवान सद्गुरु-संतों की शरण में रहकर सेवा, स्वाध्याय तथा साधना करते हुए मन वश में होता है। भड़काऊ बातों में साधक न पड़े। गंगातट पर फल-मूल का आहार मिलना आजकल सहज नहीं है। आजकल फल-फूल बाजार से ही खरीदकर लाना पड़ेगा अथवा किसानों के खेत से।

कुण्डलिया-96

काशी में जहँ शिव बसत बैठि तासु उद्यान।
विविधि अशन सम तप नहीं देख्यों उग्र महान॥
देख्यों उग्र महान भीख जहँ सुन्दर भूषण।
खण्ड एक कौपीन बसन बहुमूल्य अदूषण॥
मरणहि मंगल करण मिलै जहँ हर अविनाशी।
को ऐसो विद्वान तजै जो ऐसी काशी॥

काशी में शिव जी रात-दिन बसते हैं। काशी का दूसरा नाम अविमुक्त है। जहां से शिव जी कभी अलग नहीं होते, वह काशी है। वहां के उद्यान में बैठकर अनेक प्रकार का भोजन करना महान तप है। आज भी संन्यासी लोग मधुकरी भिक्षा मांगकर शाम को बाग-फुलवारी में भोजन करते हैं। पुराने मान्यतानुसार भर्तृहरि जी कहते हैं कि काशी की बाग-फुलवारी में भोजन करना महान तप है। वहां भिक्षा करना सुन्दर भूषण है। और कौपीन का एक खण्ड वस्त्र मिल जाये तो वह दूषण रहित कीमती चीज है। **मरणहि मंगल करण।** वहां मरना ही मंगल करण है। क्योंकि मरने पर हरेक को वहां अविनाशी शिव जी मिलते हैं। इसलिए कौन ऐसा विद्वान होगा जो काशी को छोड़ेगा। इसीलिए तो, कितने संन्यासी जो भारत के किसी कोने में रहें, भावना की पिनक आती है तो वे काशी चले आते हैं, और वहीं रहते हैं। धर्मशास्त्रों में तो यहां तक लिखा है कि कोई काशी पहुंचे तो पत्थर से अपने पैरों को कुचल दे, जिससे इच्छा होने पर भी कभी बाहर न जा सके। जब यह लिखा गया तब ट्रेन और बसें नहीं थीं। अब तो टिकट कटाये बैठे और चल दिये। काशी की महिमा का वर्णन बहुत पहले से किया गया है। परन्तु महिमाओं में अतिशयोक्तियां हैं। हां, किसी पवित्र स्थल में जाने से जरूर मन में पवित्र भावना बनती है। लेकिन आदमी जहां रहे वहीं काशी है। अर्थात जहां साधु-संग हो वहीं काशी है। स्वयं विवेक से रहना चाहिए।

छप्पय-97

बैठि पौरिया द्वार छड़ी कर पहरो राखत।
सोवत स्वामि हमार जाहु तुम ऐसो भाषत॥

करिहैं क्रोध अपार लखै, जो तुमको द्वारे।
जाहु विश्वपति द्वार तहाँ नहिं रोकनहारे॥
जहँ निर्दय कटुवादी नहीं अवश्य तहाँ चलि जाइए।
वहँ निर्भय ब्रह्मानंद सुख ब्रह्मानंद वहाँ पाइए॥

ऐ कामनावशी जीव, कहां भटक रहे हो। इन रजवाड़ों के दरवाजे पर क्यों जाते हो। यहां तो छड़ी लेकर दरबान खड़ा होगा। वहां तुम्हें घुसने नहीं देगा और कहेगा हमारे स्वामी सो रहे हैं, अभी जाओ। अगर तुम्हें दरवाजे पर देखेंगे तो वे बड़ा क्रोध करेंगे। भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐ लोगो! रजवाड़ों के दरवाजों पर न जाओ, विश्वपति के दरवाजे पर जाओ वहां कोई रोकने वाला नहीं है। वहां कोई निर्दय और कटुवचन बोलने वाला नहीं है। वहीं निर्भय ब्रह्मानंद है, और वहीं ब्रह्मानंद को पाओगे।

ब्रह्मानंद का मतलब है उच्च आनंद। वह मन की निष्काम अवस्था है। विश्वपति कहीं कोई नहीं है। आत्मा ही विश्वपति है। उपनिषदों में भी इस जीव को ही सम्राट कहा गया है। जो कामना को छोड़कर आत्मलीन हो जाता है वह सम्राट हो जाता है, बादशाह हो जाता है। आत्मा ही विश्वपति है। और अपने आत्मा में लौट आना ही विश्वपति-धाम में पहुंच जाना है। निष्काम होकर आत्मलीनता ही ब्रह्मानंद है, महा आनंद है।

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
25 सितंबर, 1995 ई०)

सातवां प्रवचन

दोहा-98

मन को चिंता चक्रधर, खल विधि रह्यो घुमाय।
रचि है कहा कुलाल सम, जान्यो कछू न जाय॥

विधि, कानून, नियम हमारे चित्त को चिंता के चाक पर धरकर घुमा रहा है। खल = खलुः, निश्चय, निश्चित ही, यह ब्रह्मा, विधि, यह नियम हमारे चित्त को चिंता के चाक पर धर कर घुमा रहा है। पता नहीं यह विधि रूपी कुम्हार क्या बनाना चाहता है। कुम्हार अपने चाक पर मिट्टी रखकर चाक को घुमाता है तो वह घड़ा, परई, दीपक या और भी कई प्रकार के बरतन बनाना चाहता है। लेकिन हमारे चित्त को चिंता के चाक पर धरकर विधि, ब्रह्मा क्या बनाने के लिए घुमा रहा है? कहने का बड़ा सुन्दर तरीका है।

हमारे चित्त को कोई नहीं घुमा रहा है। हम स्वयं अपनी भूल से इसको घुमा रहे हैं। राग-द्वेष का उद्वेग हमारे चित्त में जितना होगा, उतना वह घूमेगा। राग-द्वेष का उद्वेग नहीं रहेगा तो चित्त शांत रहेगा। राग-द्वेष का कारण दूसरा नहीं, किन्तु हमारा अज्ञान है। इसमें उलझना हमारी कमजोरी है। इसके निमित्त तो सदा रहेंगे। दुनिया में ऐसा कहने वाले और बरताव करने वाले तो सदा रहेंगे। किसी ने कुछ ऐसा कह दिया, या बरताव कर दिया, तो उससे हम राग-द्वेष करते हैं, उलझते हैं यह हमारी कमजोरी है। जो हमारे मन के अनुकूल न पड़े ऐसी घटनाएं होती ही रहेंगी। इन घटनाओं और बरतावों में हम उद्वेगित न हों। उद्वेगित होते हैं तो हमारा चित्त चाक की भांति घूमेगा और हम दुखी होंगे। वस्तुतः चित्त को हम घुमाते हैं, कोई दूसरा विधि या ब्रह्मा नहीं घुमाता है। इसलिए इसे शांत भी हम ही कर सकते हैं। वस्तुतः हमारे चित्त को हमारे राग-द्वेष का विधान घुमा रहा है। इसे हमें ही शांत करना है।

दोहा-99

नाहिन शिव अरु विष्णु में, सूझै अंतर मोय।
तदपि चन्द्रशेखर लखत, प्रीति अधिक कछु होय॥

मुझे शिव और विष्णु में कुछ अंतर दिखाई नहीं देता है। फिर भी चन्द्रशेखर पर जब मेरा ध्यान जाता है, तब प्रेम कुछ अधिक हो जाता है। चोटी पर अर्द्ध चन्द्र धारण करने वाले शिव को चन्द्रशेखर कहते हैं। भर्तृहरि जी शैव थे। वे कहते हैं कि शिव और विष्णु में मुझे कुछ अंतर नहीं दिखाई देता लेकिन शिव जी के प्रति अधिक लगाव है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने इष्ट को सर्वोपरि मानता है।

वैसे शिव और विष्णु हुए हैं या नहीं, इसे छोड़ दीजिये। वेदों में 'शिव' का अर्थ मंगलमय और 'विष्णु' का अर्थ सबमें प्रविष्ट किया गया है। प्रकृति के नियम संसार के सारे प्रपंच दृश्य में प्रविष्ट हैं। उन्हीं नियमों के द्वारा सभी संचालित हैं, सभी में गति है। प्रकृति का नियम सब में प्रविष्ट है इसलिए वही आधिदैविक विष्णु है। और सभी प्राणियों के अंदर आत्मा प्रविष्ट है तभी शरीर संचालित हो रहा है। इसलिए आत्मा ही आध्यात्मिक विष्णु है। प्राणियों की समष्टि विराट स्वरूप विष्णु है। क्योंकि इसी से देश-समाज चलता है। इसलिए ये सारे प्राणी ही विष्णु हैं। यह आधिभौतिक विष्णु है।

यहां का मूल भाव है, विष्णु हो या शिव, सभी प्राणियों में निवास करने वाला चेतन आत्मा है। उसी में प्रेम करना विष्णु और शिव में प्रेम करना है।

छप्पय-100

अरे काम बेकाम धनुष टंकारत तर्जत।
तू हू कोकिल व्यर्थ बोल काहे को गर्जत॥
तैसे ही तू नारि वृथा ही करत कटाक्षे।
मोहि न उपजै मोह छोह सब रहिगे पाछे॥
चित चन्द्र चूड के चरण को ध्यान अमृत वरषत हिते।
आनन्द अखण्डानन्द को ताहि अमृत सुख क्यों हिते॥

ऐ काम! तू अपने धनुष को टंकारता है, वह व्यर्थ है। अब मेरा मन इस संसार को समझ लिया है कि इसके भोगों में कांटे के अलावा कुछ नहीं है। और ऐ कोयल! तू भी व्यर्थ में बोल-बोल कर श्रम उठा रही है। अब तेरी कूक से मेरे मन में काम उद्दीपन नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऐ स्त्री! तू व्यर्थ में कटाक्ष मत कर, अब तेरे नयन-बाण मुझे कुछ नहीं लगते। यह टट्टी-पेशाब से भरी काया है, इसमें क्या रखा है। अब मेरे मन में मोह नहीं उत्पन्न हो सकता। मेरे मन के मोह सब बीत गये। अब तो चन्द्रचूड़ के चरणों में ध्यान लगाकर मस्त हूं। मेरे मन में अमृत की वर्षा होती है। अब मेरे मन में सदैव अखण्डानन्द है। अब विषय-सुख तुच्छ हो गये हैं।

छप्पय-101

कंथा अरु कौपीन फटी पुनि महा पुरानी।
बिना याचना भीख नींद मरघट मन मानी॥
रह जग सो निश्चिंत फिरै जित ही मन आवै।
राखे चित कूँ शांत अनुचित कबहुँ न भाषै॥
जो रहे लीन अस ब्रह्म में सोवत अरु जागत यदा।
है राज तुच्छ तिहुं भुवन को ऐसो पुरुषन को सदा॥

गुदड़ी और लंगोटी फटी हो और बहुत पुरानी हो तो कोई बात नहीं। बिना मांगे भोजन मिल जाये और श्मशान में इच्छानुसार नींद ले ले। जगत से निश्चिंत रहे और जिधर मन हो उधर घूमें, किन्तु चित्त को शांत रखे, कभी भी अनुचित न बोले। इस प्रकार जो रात-दिन ब्रह्म में, आत्मा में, निजस्वरूप में लीन रहता है उसको तीनों लोकों का राज्य तुच्छ लगता है। कुल मिलाकर साधक अपने आत्मस्वरूप में लीन रहे, उसी में निश्चिंतता है।

छप्पय-102

अति चंचल ये भोग जगत हू चंचल तैसो।
तू क्यों भटकत मूढ़ जीव अज्ञानी जैसो॥

आशा फाँसी काट चित्त तू निर्मल ह्वैरे।
साधन साधि समाधि परम निज पद को ह्वैरे॥
करि रे प्रतीति मेरे वचन दुरि रे तू इह ओर को।
छिन यहै यहै दिन हू भलो निज राखै कछु भोर को॥

संसार के सारे भोग क्षणिक हैं। आज हैं और कल नहीं। सारा संसार ऐसे क्षणिक है। अरे मूढ़ मन! तू अज्ञानी बनकर इनके पीछे क्यों भटकता है? तुझे यहां क्या मिलेगा? इन्हीं सांसारिक चीजों के लिए ही तो तू राग-द्वेष करता है, अनीति करता है, निंदा-ईर्ष्या में पड़ता है, मन को मलिन करता है। इन भोगों की आशा की फांसी काट और निर्मल हो जा। साधना कर, समाधि में डूब और निजपद में स्थित हो। मेरे वचन पर विश्वास कर और संसार से भाग जा। यह बड़ा अनोखा समय क्षण-क्षण बीता जा रहा है। अपने कल्याण को कल के लिए मत छोड़, आज ही कर।

छप्पय-103

योगी जग बिसराय जाय गिरिगुहा बसत हैं।
करत ज्योति को ध्यान मगन आँसू बरसत हैं॥
खग कुल बैठत अंक पियत नि:शंक नयन जल।
धनि-धनि हैं वे धीर! धर्‍यो जिन यह समाधि बल॥
हम सेवत बारी बाग सर सरिता वापी कूप तट।
खोवत हैं यो ही आयु को भये निपट ही नीर घट॥

योगीजन जगत को भूलकर पर्वत की गुफा में जाकर बसते हैं। वे ज्योति का ध्यान करते हैं और मगन होकर आंसू बरसते हैं। पक्षी निर्भय होकर गोद में बैठते हैं और आंसू को झरने का पानी समझकर पीते हैं। वे धन्य हैं, जो इस प्रकार समाधि धारण किये। हम तो ऐसे निपट मूढ़ हैं जो फुलवारी, बाग, नदी, वापी (सीढ़ीदार कुआं), कूपतट इन्हीं सब के किनारे पड़े हैं, और अपनी आयु को व्यर्थ में खो रहे हैं। हम अत्यन्त संकुचित जैसे घड़े का पानी हो गये। इन सब बातों में अतिशयोक्तियां हैं लेकिन इन अतिशयोक्तियों के बीच से साधक को वैराग्य की निश्चिंतता और समाधि की प्रेरणा लेनी चाहिए।

छप्पय-104

ग्रस्यो जन्म को मृत्यु जरा यौवन को ग्रास्यो।
ग्रसिबे को संतोष लोभ यह प्रकट प्रकाश्यो॥
तैसे ही सम दृष्टि ग्रसित बनिता विलास वर।
मत्सर गुण ग्रसि लेत ग्रसत वन को भुजंग वर॥
नृप ग्रसित किये इन दुर्जनन कियो चपलता धन ग्रसित।
कछुहू ना देखो बिन ग्रसित याही ते चित अति त्रसित॥

जन्म को मृत्यु ने ग्रस लिया है। जवानी को बुढ़ापा ने घेर लिया है। संतोष को लोभ ने घेर लिया है। इसीलिए लोभी आदमी को संतोष नहीं। इसी प्रकार स्त्री के प्रति विलासी भावना ने हमारी समता-दृष्टि को नष्ट कर दिया है। सारे सद्गुणों को ईर्ष्या ने ग्रस लिया है। सद्गुणियों को देखकर ईर्ष्यालु जलते हैं। पर्वत और वनों को सांपों ने ग्रस लिया है। राजाओं को इन दुष्टों ने ग्रस लिया है। दुर्जन लोग राजाओं के आस-पास लगे रहते हैं। आजकल उन्हें चमचे कहते है। राजनेताओं के चमचे होते हैं। धन को चंचलता ने ग्रस लिया है। धन का कुछ विश्वास नहीं। भर्तृहरि जी कहते हैं, मैंने ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी जो विरोधी पक्ष से बिना ग्रसित हो। इसलिए इन सबको देखकर मेरा चित्त बहुत त्रसित है। इस संसार में किस चीज की आशा की जाय। अतएव वैराग्य ही सुखद है।

दोहा-105-106

रोग वियोग विपत्ति बहु, देह आयु आधीन।
निडर विधाता जग रच्यो, महा अथिरता लीन॥
सह्यो गर्भ दुख जन्म दुख, यौवन त्रिया वियोग।
वृद्ध भये सबहिन तज्यो, जगत किंधौ यह रोग॥

शरीर में रोग लगते हैं और अनुकूल व्यक्तियों-वस्तुओं का वियोग होता है, अनेक प्रकार की विपत्तियां आती हैं। हमारा शरीर आयु के आधीन है, जो निरंतर समाप्त हो रहा है। निश्चित है विधाता ने जगत को निर्भय और उच्छृंखल होकर रचा है। कुछ नहीं सोचा और ऐसा बना डाला जो अत्यंत क्षणिक है। इसमें मैं गर्भ-दुख सहा, जन्म का दुख सहा, जवानी

में स्त्री के वियोग का दुख सहा और स्त्री को लेकर मन हरदम खौलता रहा, उद्वेगित, उत्तेजित होता रहा। बुढ़ापा आते ही सबने छोड़ दिया, पत्नी भी नहीं पूछती है। लगता है जगत में आना रोग और दुखों को निमंत्रित करना है। अतएव यह जगत है अथवा रोग है।

छप्पय-107

शतहिं वर्ष की आयु रात में बीतत आधे।
ताके आधे आध वृद्ध बालकपन साधे॥
रहे यहै दिन आधि व्याधि गृह काज समोये।
नाना विधि बकवाद करत सबहिन दिन को खोये॥
जल की तरंग बुदबुद सदृश देह खेह ह्वै जात है।
सुख कहां कहो इन नरन को जासो फूल गात है॥

आदमी की उम्र सौ वर्ष की मानी जाती है। कुछ लोग सौ वर्ष से अधिक जीते हैं बाकी लोग तो सौ वर्ष के अंदर में ही मरते हैं। लेकिन मान लो मनुष्य की आयु सौ वर्ष की है। इसमें आधी आयु रात में बीत जाती है और आधे की आधी वृद्ध और बालकपन में बीत जाती है। और जो आयु बची वह आधि-व्याधि तथा काम-धंधा में बीत जाती है। **नाना विधि बकवाद करत सबहिन को खोये।** नाना प्रकार के बकवाद, राग-द्वेष, परनिंदा, काम-क्रोध, मद-मत्सर, प्रपंचवार्ता करके समय बर्बाद हो गया। जैसे जल की तरंगें और बुदबुदे क्षण में मिट जाते हैं, वैसे यह देह धूल हो जाती है। कहो भला, इन मनुष्यों को इन भोगों में सुख कहां है जो इनका शरीर अहंकार में फूल रहा है।

दोहा-108

बड़े विवेकी तजत हैं, सम्पति सुत पितु मात।
कन्था अरु कौपीन हूँ, हम से तजी न जात॥

वे बड़े विवेकी होते हैं, जो संपत्ति, पुत्र, पिता, माता जो कुछ अपना माना है, उसे छोड़कर विरक्त हो जाते हैं। हमसे तो गुदड़ी और लंगोटी भी नहीं छोड़ी जा रही है।

दोहा-109

कुपित सिंहनी ज्यों जरा, कुपित शत्रु ज्यों रोग।

फूटे घट जल त्यों वयस, तऊ अहित युत लोग॥

बुढ़ापा सिंहनी के समान कुपित होकर दौड़ी आ रही है। पता नहीं चलता है बाल कब एक-एक कर उजले हो जाते हैं? आंखों की रोशनी घटने लगती है। दांतों में पीड़ा होना और उनका उखड़ना शुरू हो जाता है। चाम में शिकन इस प्रकार आती है जैसे चोर। रोग दुश्मन के समान हमारे शरीर में हमला करते हैं। शरीर की दशा वैसी है जैसे फूटा घड़ा, जिसमें से जल निरंतर बह कर निकल रहा हो। ऐसी दुर्दशा इस शरीर की है। तो भी लोग अहित के काम में लगे रहते हैं, जिससे अपना विनाश हो उसी में लगे रहते हैं। काम-वासना का स्मरण अपना विनाश है। क्रोध करना अपना विनाश है। ईर्ष्या करना अपना विनाश है। परनिंदा करना अपना विनाश है। चिंता करना अपना विनाश है। सांसारिक चीजों को रात-दिन जपना अपना विनाश है। इन्द्रियों की लंपटता में पड़े रहना अपना विनाश है। हां, शरीर के लिए इन तीन चीजों–असन, वसन, निवसन की जरूरत होती है, इन्हें संक्षिप्त लें।

कल्याण का काम करो। अपने मन की चालबाजी में पड़कर अपने चित्त को दूषित मत करो। नहीं तो इसी धोखाधड़ी में जीवन बीत जायेगा और मौत आ धमकेगी। तब पछताना पड़ेगा। इसलिए पहले ही सम्हल जाओ।

दोहा-110

भू　भूषण　तन　रत्न　दै, नर को करि गुण खान।

क्षण भंगुर विधि तेहि कियो, यह　खटकत　अज्ञान॥

विधाता का अज्ञान मुझे खटकता है। मनुष्य को उसने भव का भूषण बनाया। मनुष्य का तन रत्न है, जिसमें विवेक उत्पन्न होता है। मनुष्य को गुणों की खानि बनाया, लेकिन इसको क्षणभंगुर बनाया। और यह भी निश्चित नहीं किया कि भई, तुम अस्सी वर्ष रहो या सौ वर्ष रहो। किन्तु इतना अचानक चला जाता है कि कुछ पता नहीं लगता है।

वैसे विधाता के अज्ञान का पता लगाया जाय तो और भी बहुत होगा। भर्तृहरि जी कहते हैं, यहां मैंने एक अज्ञान कहा है। यह सब कहने का एक तरीका है। किसी के अज्ञान से हमारे शरीर का निर्माण नहीं होता है। किन्तु हमारे ही अज्ञान और मोह से शरीर बना है। शरीर की जितनी आयु है, समय है, वह बहुत है। हम इस जीवन में दसों-बीसों बार मोक्ष ले सकते हैं। लेकिन एक बार ले लेने पर और लेने की जरूरत नहीं रहती। बस, उसी को बनाये रखना रहता है। समय कम नहीं है। हमारी कुचाल, हमारी आसक्ति, पाखण्ड और मूढ़ता ही हमें नीचे गिराती रहती है। एक तो हम अध्यात्म को ठीक से समझ नहीं पाते हैं। कुछ समझे भी तो तनिक कोई गुण आया, उसी का घमण्ड हो जाता है। यहां तक भक्ति का घमण्ड, वैराग्य का घमण्ड, साधना का घमण्ड, विद्या का घमण्ड, ज्यादा दिन के साधु होने का घमण्ड हो जाता है। यह सब हमारा अज्ञान है। हम अपने अज्ञान में ही चूर रहते हैं। समय कम नहीं है। समय बहुत ज्यादा है। हम इस सुअवसर का उपयोग करें।

छप्पय-111

भयो संकुचित गात दन्त हू उखरि परे महि।
आँखिन दीखत नाहिं बदन ते लार परत बहि॥
भई चाल बेचाल हाल बेहाल भयो अति।
वचन न मानत बन्धु नारिहू तजी प्रीति गति॥
यह कष्ट महा दिये वृद्धपन कछु मुख सो नहिं कह सकत।
निज पुत्र अनादर कर कहत यह बूढ़ा यों ही बकत॥

भर्तृहरि जी वृद्धावस्था का खाका खींचते हुए कहते हैं कि शरीर वृद्धावस्था में संकुचित हो जाता है, शिकन से भर जाता है। मुख के दांत उखड़ कर जमीन पर चले गये हैं। आंखों से कम दिखाई देता है। मुख से लार टपक पड़ती है। चाल बेचाल हो गयी है। पैर इधर रखो तो उधर चले जाते हैं। अब मेरा हाल बेहाल हो गया। शरीर से कोई काम सधता नहीं है, यहां तक भोजन भी नहीं पचता है।

भाई लोग बात नहीं मानते हैं। पत्नी ने भी प्रेम की गति छोड़ दी है। अब पूछती भी नहीं है, कि कैसी हालत है? इस प्रकार बुढ़ापा ने यह महा

कष्ट दिया। अब मुख से कुछ नहीं कह सकता, बस बिस्तर पर पड़ा रहता हूं। यदि कुछ कहूं तो उलटा होता है। **निज पुत्र अनादर कर कहत यह बूढ़ो यों ही बकत।** पुत्र उठकर मित्रों से कहता है, यह बूढ़ा यूं ही बकता रहता है। इसकी बुद्धि खराब हो गयी है। साठी बुद्धि नाठी होती है। इस प्रकार पुत्र मेरा अनादर करता है। अहो! कैसा समय आ जाता है।

छप्पय-112

छिन में बालक रोत होत छिन ही में यौवन।
छिन ही में धनवन्त होत छिन ही में निर्धन॥
होत छिनक में वृद्ध देह जरजरता पावत।
नट ज्यों पलटत अंग स्वांग नित नये दिखावत॥
यह जीव नाच नाना रचत निचल्यो रहत न एकदम।
करके कनात संसार की कौतुक निरखत रहत यम॥

भर्तृहरि जी महाराज वृद्धता की दयनीय दशा का वर्णन करने के बाद शरीर-संसार की क्षण-क्षण परिवर्तनशीलता पर दृष्टिपात करते हुए कहते हैं कि क्षण ही में बालक माता के गर्भ से रोता हुआ पैदा होता है। क्षण ही में देखते-देखते जवान हो जाता है। क्षण ही में धनार्जन कर धनवान हो जाता है, और क्षण ही में निर्धन हो जाता है। क्षण ही में वृद्ध और जर्जर हो जाता है। देखते-देखते शरीर का कितना परिवर्तन होता है। जैसे नट अपना स्वांग बदलता है और नये-नये रूप दिखाता है। ऐसे ही **यह जीव नाच नाना रचत।** यह जीव नाना नाच रचता है। अनेक अवस्था रूपी चेहरे बदलता है। **निचल्यो रहत न एकदम।** एकदम, एक सांस, एक क्षण भी यह **निचल्यो** निश्चल, स्थिर, शांत नहीं रहता है। **करके कनात संसार की कौतुक निरखत रहत यम।** मौत संसार की कनात कर, परदा डालकर उसके अंदर से देखती रहती है कि यह जीव अभी नाच रहा है और यह समझ नहीं रहा कि मेरे मुख में आने वाला है, और इतरा रहा है, अहंकार कर रहा है। मौत परदे के आड़ से मुस्कराती है। वह समझती है कि इस मूर्ख को पता नहीं है कि इसे मैं जल्दी उठा लेने वाली हूं।

छप्पय-113

सर्प सुमन को हार उग्र बैरी अरु सज्जन।
कंचन मणि अरु लोह कुसुम शय्या अरु पाहन॥
तृण अरु तरुणी नारि सबन पर एक दृष्टि चित्त।
कहूँ राग नहिं रोष, द्वेष कतहूँ न कहूँ हित॥
ह्वै हैं कब मेरी यह दशा गंगा के तट तप जपत।
रस भीने दुर्लभ दिवस ये बीतेंगे शिव-शिव रटत॥[1]

मेरे गले में किसी ने सांप डाल दिया हो या फूलों के हार डाल दिया हो, उग्र बैरी हो या सज्जन हो। सोना हो, मणि हो, लोहा हो, फूलों की शैय्या हो, और पत्थर हो, तृण हो या तरुणी स्त्री हो, सब पर मेरी एक दृष्टि हो। न कहीं राग होगा, न ही कहीं द्वेष होगा, न रोष होगा, न मोह होगा। ऐसी मेरी दशा कब आयेगी कि गंगा के किनारे जप-तप करते हुए, आत्मज्ञान में लीन रहूंगा। हमारे ऐसे दुर्लभ दिन कब आयेंगे जब मधुर रस भीने शिव-शिव जपते बीतेंगे।

भर्तृहरि जी शिव उपासक थे। वैसे शिव का अर्थ है कल्याण। जो बैल पर बैठता हो, जिसके सिर पर जटा हो, अर्द्धचन्द्र धारण करता हो, सिर पर गंगा लहरी हो और साथ में पत्नी रखता हो, जिसका पुत्र गणेश हो, और शरीर में सांप लपेटे हो, ऐसे शिव की कल्पना पुराणों की देन है। वेद में रुद्र देवता है, जो तूफान का देवता है। उसी के बाद शिव की कल्पना हुई है। शिव तो वास्तव में कल्याण स्वरूप है। जो निर्मल हो गया है, वह शिव है। इसीलिए मांडूक्य उपनिषद् में प्रपंच के उपशमन होने पर शिवत्व का उद्घाटन माना गया है। **प्रपञ्चोपशमं शातं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।** जब प्रपंच का उपशमन हो गया, चित्त शांत हो गया, तब शिवत्व का उद्घाटन हुआ। यही चौथी अवस्था है। पहली जागृत अवस्था, दूसरी स्वप्न, तीसरी सुषुप्ति और चौथी शिवत्व की

---

1. अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृद वा।
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृपदि वा॥
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यांतु दिवसाः।
क्वचित्पुण्यारण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः॥ 113॥

समाधि अवस्था है। जैसे किसी आदमी से मिलने के लिए जहां वह काम करता है, वहां जाना पड़ता है। जहां वह रहता है, काम करता है, वहीं मिल सकता है। जागृत अवस्था में जीव रहता है। स्वप्न, सुषुप्ति में भी रहता है और समाधि में भी रहता है। इन चारों को पहचानने के लिए माण्डूक्य उपनिषद् में बताया गया है। यहां अंतिम बात बतायी गयी है। पूरा कथन इस प्रकार है–

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं
प्रपञ्चोपशमं शातं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ 7 ॥

न वह अन्तर प्रज्ञ होता है, न बहिष्प्रज्ञ होता है, न उभयप्रज्ञ होता है, न प्रज्ञ होता है, न अप्रज्ञ होता है, न प्रज्ञानघन होता है, वह तो अग्राह्य है, अलक्षण है, अचिन्त्य है, अव्योपदेश है, उसका उपदेश नहीं हो सकता है। **एकात्मप्रत्ययसारं** वह आत्मअस्तित्व मात्र होता है। वहां प्रपंच का उपशमन होता है, संकल्प शांत होता है। वह शिव है, कल्याण स्वरूप है, असंग, अकेला है। **चतुर्थं मन्यन्ते सः आत्मा** यह चतुर्थ अवस्था, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति से परे समाधि अवस्था है। यही आत्मा है। **स विज्ञेयः** यह विज्ञेय है, जानने योग्य है। सारे प्रपंचों का शमन आत्मविश्राम यह शिव की स्थिति है। भर्तृहरि जी कहते हैं, इस शिवस्वरूप में, आत्मस्वरूप में मैं कब स्थित होऊंगा। मेरे मन में राग नहीं होगा, द्वेष नहीं होगा। मेरा चित्त समता को प्राप्त कर आत्मलीन हो जायेगा, ऐसा दुर्लभ दिन, ऐसा सौभाग्य का समय मेरा कब होगा?

(कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
26 सितम्बर, 1995 ई०)